मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 73 ● वर्ष 8, अंक 10 ● दिसम्बर 2018 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

बुलन्दशहर की हिंसा: किसकी साज़िश? 3

गाँव के ग़रीबों का हित किसके साथ है? 12

रिज़र्व बैंक और सरकार का टकराव और अर्थव्यवस्था की बिगड़ती हालत 16

पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव में भाजपा की शिकस्त

यह निश्चिन्त होने का नहीं बल्कि फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को और व्यापक व धारदार बनाने का समय है!

भाजपा और उसके ज़रख़रीद मीडिया के धुआँधार प्रचार, नरेन्द्र मोदी की ढाई दर्जन रैलियों और हज़ारों करोड़ के चुनावी खर्च के बावजूद पाँच विधानसभाओं के चुनाव में भाजपा को हार का मुँह देखना पड़ गया। मध्यप्रदेश, राजस्थान और छत्तीसगढ़, ये तीन बड़े राज्य उसके हाथ से निकल गये और तेलंगाना और मिज़ोरम में भी कुछ हाथ नहीं आया। सारा हाईटेक प्रचार, अमित शाह का "चुनाव मैनेजमेंट" और मीडिया प्रबन्धन धरा का धरा रह गया। राजस्थान में लम्बे समय से जारी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण, प्रशासन के नंगे संरक्षण के साथ गाय के नाम पर की गयी अनेक हत्याओं और जगह-जगह दंगे भड़काना भी काम नहीं आया। मध्यप्रदेश में भी जातीय-धार्मिक ध्रुवीकरण की तमाम कोशिशें बेकार रह गयीं। छत्तीसगढ़ में बसपा-अजित जोगी के गठबन्धन द्वारा कांग्रेस के वोट काटने की उम्मीद भी बेकार रह गयी। लोगों के बदले रुख का अनुमान भाजपा को पहले ही लगने लगा था और उसी अनुपात में उसके नेताओं की बौखलाहट भी बढ़ती साफ दिखायी दे रही थी। चुनाव प्रचार का आख़िरी दौर आते-आते नरेन्द्र मोदी ख़ुद बुर्जुआ शालीनता के दिखावे को भी ताक पर धरकर घटियाई के सारे रिकॉर्ड तोड़ते नज़र आये।

इस चुनाव में कांग्रेस की विजय के साथ ही बुद्धिजीवियों और तमाम प्रगतिशील लोगों का एक बड़ा हिस्सा इस बात को लेकर बेहद ख़ुश है कि भारतीय जनता पार्टी के रूप में

सम्पादक मण्डल

साम्प्रदायिक फासीवाद की पराजय हुई है और फासीवादी संगठनों के देशभर में बढ़ते उत्पात पर लगाम लग गयी है। अभी से यह मानकर चला जा रहा है कि 2019 के आम चुनाव में भाजपा केन्द्र की सत्ता से बाहर हो जायेगी और फासीवाद के कहर से देश को मुक्ति मिल जायेगी।

इसमें कोई शक नहीं कि इस हार से भाजपा को भारी नुकसान उठाना पड़ा है और भाजपा में आंतरिक कलह और उठापटक भी इससे तेज़ होगी। मोदी और शाह की जोड़ी ने जिस तरह से पार्टी के अन्य नेताओं को किनारे लगाया है उससे अन्दर ही अन्दर नाराज़ नेता अब मुखर होंगे जबकि वोट बटोरने वाले नेता के रूप में मोदी की छवि की हवा निकल गयी है। **लेकिन क्या इसे देश में फासीवादी ताक़तों की पराजय या उसकी उल्टी गिनती की शुरुआत कहा जा सकता है? क्या फासीवाद, धार्मिक उन्माद और दकियानूसी कट्टरपन की शक्तियों के ख़िलाफ़ लड़ाई में हम थोड़ा भी निश्चिन्त हो सकते हैं? इन सभी सवालों का जवाब है, पुरज़ोर 'नहीं'!** चुनाव के परिणाम यह भी बताते हैं कि साढ़े चार साल के मोदी राज से असन्तुष्ट जनता उससे छुटकारा तो पाना चाहती है लेकिन कांग्रेस के पुराने पापों को भी उसने भुलाया नहीं है। सभी जगह आमने-सामने के मुकाबलों में दोनों के वोट का प्रतिशत लगभग बराबर ही है।

यह सही है कि जनप्रतिनिधियों के चुनाव की मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली में चुनाव परिणाम वास्तविक जनभावनाओं को उजागर नहीं करते लेकिन फिर भी एक हद तक तो इनसे जनता की राय का पता चलता ही है। चुनाव नतीजों के आधार पर इतना तो बेहिचक कहा जा सकता है कि मतदाताओं की बहुसंख्या ने भाजपा गठबन्धन के खिलाफ अपनी नाराज़गी जाहिर की है। यह साफ है कि लोगों ने मोदी सरकार की घोर पूँजीपरस्त आर्थिक नीतियों और हिन्दुत्ववादी फासिस्ट राजनीति और सामाजिक-सांस्कृतिक नीतियों के खिलाफ अपना मत दिया है। 'विकास' के लम्बे-चौड़े दावों में से कोई भी पूरा होना तो दूर की बात है, पिछले साढ़े चार साल में खाने-

(पेज 8 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और इनकी माँगें

ये किन वर्गों के हित में हैं? क्या इनसे "किसानी के संकट" और गाँव के ग़रीबों की समस्याओं का हल सम्भव है?

पिछले लम्बे समय से देश में ग़रीब किसानों का शोकेस या विज्ञापन की तरह इस्तेमाल करके धनी किसानों की राजनीति हो रही है। ग़रीब किसानों के कन्धों पर बेताल की तरह लटके तमाम एनजीओबाज़, वामपन्थी संशोधनवादी पार्टियाँ और ग़रीब किसानों के तथाकथित हितैषी उन्हें शमशान के ख़ौफ़नाक अँधेरे से बाहर ही नहीं निकलने दे रहे हैं। पिछले दिनों 29 और 30 नवम्बर को दिल्ली में किसानों का एक और बड़ा जमावड़ा हुआ। 'अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति' के नेतृत्व में आयोजित इस कार्यक्रम को 'किसान मुक्ति यात्रा' का नाम दिया गया था। इस 'मुक्ति यात्रा' में 200 से ज़्यादा किसान संगठनों ने भागीदारी की। मीडिया के माध्यमों के अनुसार इस 'मुक्ति यात्रा' में 30 हज़ार के क़रीब किसानों ने शिरकत की। पहले बात 1 लाख तक की भागीदारी की हो रही थी। देश भर से जुटे किसान-जत्थों ने दिल्ली में विभिन्न स्थानों से प्रवेश किया तथा रामलीला मैदान में लगे पण्डाल में पहुँचे। वहाँ से अगले दिन किसानों ने संसद मार्ग तक मार्च किया। 'किसान मुक्ति यात्रा' की अगुवाई समिति के महासचिव अवीक शाहा, योगेन्द्र यादव, पी. साईनाथ, मेधा पाटकर आदि आदि जैसे लोग थे। इस किसान यात्रा को सम्बोधित करने के लिए तथा मंच से अपना चेहरा दिखाकर हाथों में हाथ डालकर फ़ोटो खिंचवाने के लिए कांग्रेस के राहुल गाँधी, आम आदमी पार्टी के अरविन्द केजरीवाल, माकपा के सीताराम येचूरी, नेशनल कॉन्फ्रेंस के फ़ारुख अब्दुल्ला, लोकतान्त्रिक जनता दल के शरद यादव, एनसीपी के शरद पवार आदि समेत 21 पार्टियों के नेता मंच साझा करते दिखे। 'अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति' ने पूर्ण रूप से क़र्ज़ माफ़ी लागू कराने और फ़सल की लागत से डेढ़ गुणा ज़्यादा दाम देने की माँगों को लेकर यह 'मुक्ति यात्रा' आयोजित की थी। समिति माँग कर रही थी कि किसानों की माँगों को पूरा करने के लिए संसद में विशेष सत्र बुलाया जाना चाहिए। इस बात में कोई दो राय नहीं होना चाहिए कि 'किसान' शब्द और रूपक वोट बैंक के लिए भावनात्मक अपील करने की पर्याप्त कुव्वत रखता है। इस 'किसान मुक्ति यात्रा' में विभिन्न चुनावी मदारियों की अवसरवादी उपस्थिति तो यही दर्शाती है। किसानों के समर्थन में पी. साईनाथ और योगेन्द्र यादव जैसे एनजीओबाज़ जगह-जगह करुण क्रन्दन करने के अन्दाज़ में भावुकतापूर्ण अपील करते घूम रहे थे। ग़रीब किसानों को उनके इसी

(पेज 9 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

हमें एकजुटता बनानी होगी

मज़दूर बिगुल सम्पादक महोदय,
नमस्ते!

मेरा नाम मनीषा है। मैं दिल्ली आँगनवाड़ी में सहायक के तौर पर काम करती हूँ। मेरा प्रोजेक्ट निहाल विहार, शिवराम पार्क, नांगलोई दिल्ली है। मैं पिछले वर्ष से जब से हमारी हड़ताल हुई थी तब से मज़दूर बिगुल अख़बार पढ़ रही हूँ। इसी अख़बार ने हमारी हड़ताल की रिपोर्टों को भी काफ़ी जगह दी थी। इसके लिए मैं अपनी आँगनवाड़ी की सभी बहनों और साथियों की तरफ़ से आपका धन्यवाद करती हूँ। हम सभी यह जानते हैं कि मज़दूर वर्ग बहुत सारी मुश्किलों का सामना करता है। दिन पर दिन हमारी दिक़्क़तें बढ़ती ही जाती हैं। आँगनवाड़ी में काम करते हुए हमें भी बहुत तरह की परेशानियों को झेलना पड़ता है। जैसे खाने की आपूर्ति करने वाली कम्पनियों की वजह से खाने में कीड़े तो छोड़िए छिपकली तक निकल जाती है लेकिन जब इस तरह के खाने की वजह से बच्चों की तबीयत खराब होती है तो उसका दण्ड हमें भुगतना पड़ता है। हमने अपने अनुभव से सीखा है कि हम संगठित होकर ही सरकार, एनजीओ और अफ़सरशाही के गठजोड़ का मुक़ाबला कर सकते हैं। मैं अख़बार के माध्यम से अपने मज़दूर भाइयों को कहना चाहूँगी कि हमें एकजुटता बनानी होगी, तभी हम इस व्यवस्था का मुक़ाबला कर सकते हैं जिसमें मज़दूरों के लिए मुश्किलें ही मुश्किलें हैं। मुझे आशा है मज़दूर बिगुल ऐसे ही देश के मज़दूरों की आवाज़ बना रहेगा।

धन्यवाद सहित,

– मनीषा, दिल्ली

ब्रिटेन के प्रवासी मज़दूरों के बुरे हालात

ब्रिटेन में सर्दी का मौसम शुरू होते ही कामकाज भी कम होने लगते हैं। बारिश का कोई भरोसा नहीं किसी भी समय शुरू हो जाती है जो कामगारों की मुश्किलों को और बढ़ा देती है। जिन मज़दूरों के पास काम करने की परमिशन होती है उन्हें काम ढूँढ़ने में इतनी मुश्किलें नहीं आतीं जितनी उन मज़दूरों को आती हैं जिन्हें यहाँ रहने की या काम करने की परमिशन नहीं है और इस बात का दलाल लोग पूरा फ़ायदा उठाते हैं। बिल्डिंग और कंस्ट्रक्शन का काम यहाँ सबसे मुश्किल कामों में से है और सर्दी के मौसम में तो मुश्किलें दुगनी हो जाती हैं। ऐसे में बिना काम की परमिशन वाले मज़दूर जिनमें ज़्यादातर प्रवासी ही होते हैं उनका शोषण भी ख़ूब होता है। यहाँ कंस्ट्रक्शन का काम करने वालों को मिनिमम £9 प्रति घण्टे के हिसाब से मज़दूरी तय है। लेकिन इन प्रवासी मज़दूरों को £3 प्रति घण्टे के हिसाब से ही पैसे मिलते हैं। अगर पूरे दिन की दिहाड़ी के हिसाब से बात हुई हो तो इससे भी कम पैसे दिये जाते हैं। एक दिन की दिहाड़ी £25 से शुरू होती है जिसमें एक से दो साल तक बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं होती। काम की शिफ़्ट भी 12 से 13 घण्टे की होती है जिसमें ब्रेक का कोई निश्चित समय नहीं होता।

मुझे याद है जब मैं यहाँ नयी-नयी आयी थी और एक दूर के मामा के पास कुछ दिन ठहरी थी जिसके घर पर कंस्ट्रक्शन का काम चल रहा था। वहाँ काम करने वाले मज़दूर को मामा बहुत गन्दी गालियाँ देता था मैने कभी उसे उससे बिना गाली के बात करते हुए नहीं सुना था। मामा को पता था कि मैं कुछ बाग़ी स्वभाव की हूँ और मेरा उस मज़दूर से बात करना उसके लिए शायद नुक़सानदायक हो सकता है, इसलिए वो निगरानी रखता था कि मैं उससे बात न कर सकूँ। एक दिन जब वह घर पर नहीं था तो मैने उस मज़दूर से बात करना चाहा। लेकिन वो डरता था और मुझे बार-बार चले जाने को कह रहा था। बहुत ज़ोर देने पर उसने बताया कि वह भारत में एक बेंक में काम करता था, उसने इंजीनियरिंग में डिग्री पायी है। अब यहाँ उसकी पत्नी प्रेगनेण्ट है और उसे कहीं और काम नहीं मिल रहा। मजबूरी में उसे यहाँ काम करना पड़ रहा है। उसकी आवाज़ में दुख और लाचारी थी।

बिल्डिंग लाइन में काम करने वाले मज़दूरों की काम करने की मियाद कुछ 5-7 साल ही होती है। कड़कती ठण्ड में लगातार काम करते रहने से उनकी हड्डियाँ भी टेढ़ी हो जाती हैं। लगभग सभी को ही पीठ दर्द की शिकायत रहती है, लेकिन काम से निकाले जाने के डर से वो अपनी तकलीफ़ों का ज़िक्र किसी से नहीं करते। प्रवासी मज़दूरों की मजबूरियों का फ़ायदा उठाने वाले ठेकेदार और दलाल भी प्रवासी ही होते हैं जो ख़ुद इस प्रक्रिया से गुज़रकर बाद में मालिक बनकर उनके सर पर सवार हो जाते हैं और उन्हें लूटने का कोई मौक़ा हाथ से जाने नहीं देते। मज़दूरों का ख़ून चूस कर अपने घर भरने वालों में पंजाबी सबसे आगे हैं। वह भारतीय प्रवासियों के अलावा रोमेनीयन, स्लोवाकियन और अन्य ग़रीब यूरोपीय मुल्क़ों के मज़दूरों से जानवरों की तरह काम लेते हैं और सारा दिन काम के बदले में उन्हें शराब और सिगरेट देकर मामला निपटा देते हैं। फिर बड़ी बेशरमी से कहते हैं कि इन्हें पैसे जोड़ने का कोई लालच नहीं होता, बस शराब सिगरेट से ही ख़ुश हो जाते हैं।

कहते हैं कि दूर के ढोल सुहाने होते हैं। भारत में बहुत से लोग वहाँ की ग़रीबी और बेरोज़गारी से परेशान होकर विदेशों में काम पाने के अवसर खोजते रहते हैं। लेकिन विदेशों में प्रवासी मज़दूरों की बहुत बुरी हालत होती है। चाहे खाड़ी देशों की बात हो या यूरोप-अमेरिका की।

– रिम्पी गिल
इंग्लैण्ड

''बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।'' - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं।
मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!
इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - 5/- रुपये वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

बुलन्दशहर की हिंसा : किसकी साज़िश?

अब भी सँभल जाओ, इससे पहले कि पूरा समाज पागल बना दी गयी जानलेवा भीड़ के हवाले कर दिया जाये!

– नवमीत

जैसाकि पहले से आशंका थी, आम चुनावों से पहले देश में साम्प्रदायिक माहौल बिगाड़ने की कोशिशें तेज़ हो गयी हैं। कुछ समय पहले से ही अयोध्या में राम मन्दिर बनाने के मुद्दे को फिर से हवा दी जा रही थी। लव जिहाद व गौहत्या जैसे मुद्दे तो तब से गर्म चल रहे थे जब से केन्द्र में बीजेपी की सरकार बनी है। बीच-बीच में राज्यों के चुनाव हुए तो ये तमाम मुद्दे और भी गर्मी पकड़ते रहे हैं। गौरक्षा के नाम पर मॉब लिंचिंग की घटनाएँ भी लगातार जारी हैं। ताज़ा उदाहरण उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर का है। वहाँ योजनाबद्ध ढंग से गौहत्या के नाम पर भीड़ को भड़काया गया और फिर हिंसा, आगजनी व उत्पात मचाया गया। भीड़ को नियन्त्रित करने के लिए ड्यूटी पर तैनात एक पुलिस अधिकारी की भीड़ द्वारा हत्या कर दी गयी। साथ में हमेशा की ही तरह सोशल मीडिया पर भी तमाम तरह की अफ़वाहें फैला कर माहौल को और ख़राब करने की पूरी कोशिश की जाती रही। हिंसा के दौरान सुमित नामक एक और युवक मारा गया। बाद में तस्वीरों और वीडियो से यह साफ़ हो गया कि वह भी हिंसा करने वालों में शामिल था। हर चुनाव से पहले इस तरह की घटना होना अब आम बात हो गयी है। लेकिन हर बार की ही तरह यहाँ भी कुछ गम्भीर सवाल उठ खड़े हुए हैं जिनके बारे में बात करना बहुत ज़रूरी है।

3 दिसम्बर को बुलन्दशहर के महाव गाँव के खेतों में गाय के मांस के टुकड़े मिले थे। ये टुकड़े बाक़ायदा गन्ने के खेत में इस तरह से लटकाये गये थे जिससे दूर से दिखायी दे जायें। बाद में यह भी पता चल गया कि जानवर को कम से कम 48 घण्टे पहले मारकर वहाँ लाया गया था। ग़ौरतलब है कि इसके 3 दिन बाद यानी 6 दिसम्बर को बाबरी मस्जिद ध्वंस की बरसी आने वाली थी और राम मन्दिर का मुद्दा पहले से ही गरमाया हुआ था। इसी दिन घटनास्थल से 50 किलोमीटर दूर ही मुसलमानों का धार्मिक समागम इज़्तिमा हो रहा था जिसमें लाखों मुसलमान शिरक़त कर रहे थे। अफ़वाह यह भी फैलायी गयी थी कि गौहत्या की वारदात को इज़्तिमा में शामिल हुए लोगों ने अंजाम दिया है। सुदर्शन न्यूज़ नामक संघी न्यूज़ चैनल के मालिक सुरेश चह्वाणके ने तो बाक़ायदा इस बात की झूठी ख़बर भी फैलायी थी जिसका खण्डन यूपी पुलिस ने ट्वीट करके किया। यहाँ एक चीज़ और देखने वाली थी कि महाव गाँव बुलन्दशहर-गढ़मुक्तेश्वर स्टेट हाइवे पर पड़ता है और इज़्तिमा के समापन के बाद इस मार्ग से लाखों मुसलमानों को गुज़रना था। 'दैनिक जागरण' की ख़बर के अनुसार महाव गाँव में गोवंश के अवशेष मिलने के बाद संघ परिवार के हिन्दू संगठन बजरंग दल के कार्यकर्ताओं ने चिरगाँवठी गाँव के पास बुलन्दशहर-गढ़मुक्तेश्वर स्टेट हाईवे पर मांस के टुकड़ों को ट्रैक्टर-ट्राली में रख कर जाम लगा दिया था। जिस समय जाम लगाया गया था, उसके ठीक एक घण्टे पहले यानी 11 बजे इज़्तिमा का समापन हो गया था और इसी मार्ग से इज़्तिमा में शामिल मुसलमानों को अपने वाहनों से लौटना था। दंगे के लिए इससे बेहतर जगह और समय क्या हो सकता था? पुलिस ने समय रहते मुसलमानों को तो घटनास्थल से पहले ही दूसरे रूट से भेज दिया था लेकिन घटनास्थल पर हिंसा भड़क उठी। बजरंग दल के कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में भीड़ और पुलिस की झड़प हो गयी जिसमें एक व्यक्ति सुमित और एक पुलिस अफ़सर सुबोध कुमार सिंह की गोली लगने से मौत हो गयी। सुबोध कुमार को गोली मारने से पहले बुरी तरह पीटा और घसीटा भी गया था।

पुलिस ने इस मामले में बजरंग दल के कार्यकर्ता योगेश राज और हिन्दू संगठनों के अन्य कार्यकर्ताओं सहित 27 लोगों को नामजद किया है। फिर 5 दिसम्बर को बजरंग दल के संयोजक व इंस्पेक्टर सुबोध कुमार की हत्या में मुख्य आरोपी योगेश राज का एक वीडियो सामने आया। वीडियो में योगेश राज ख़ुद को निर्दोष बता रहा है और कह रहा है कि वह घटना के वक़्त स्याना थाने में एफ़आईआर करवाने गया हुआ था। जागरण अख़बार के अनुसार स्याना थाने के मुंशी ने बताया कि योगेश राज ने एफआईआर 12:43 मिनट पर दर्ज करवाई थी जिसकी सीपीआई लेकर वह 12:50 पर थाने से निकल गया। भीड़ और पुलिस की झड़प लगभग 1 बजे शुरू हुई और 1:35 मिनट पर इंस्पेक्टर सुबोध कुमार को गोली मारी गयी थी। जहाँ यह घटना हुई वह जगह थाने से 11 किमी दूर है। 12:50 से 1:35 के बीच में 45 मिनट के समय में 11 किलोमीटर जाना मुश्किल काम नहीं है। पुलिस का कहना है कि योगेश थाने से निकल कर सीधा घटनास्थल पर पहुँच गया और लोगों को भड़काने लगा।

यह रिपोर्ट लिखे जाने तक पुलिस योगेश को गिरफ़्तार नहीं कर सकी थी। नवभारत टाइम्स की ख़बर के अनुसार पुलिस को उसके मोबाइल की लोकेशन दिल्ली और उसके आसपास इलाक़े में मिली है। अख़बार के न्यूज़पोर्टल ने लिखा है कि पुलिस के एक बड़े अधिकारी ने नाम न छापने की शर्त पर बताया कि योगेश राज 6 दिसम्बर तक दिल्ली में एक हिन्दू संगठन के नेता के घर में शरण लिये हुए था। सवाल यह है कि अगर पुलिस को उसकी लोकेशन पता थी तो गिरफ़्तारी क्यों नहीं हो पा रही थी? क्या पुलिस पर "ऊपर" से दबाव था?

दूसरी तरफ़ सुमित और सुबोध कुमार के शवों का पोस्टमॉर्टम हुआ तो एक और चौंकाने वाला तथ्य सामने आया। इनकी पोस्टमॉर्टम रिपोर्ट के अनुसार दोनों को .32 बोर के पिस्टल से गोली मारी गयी थी। सवाल यह उठता है कि दोनों को कहीं एक ही हथियार से एक ही व्यक्ति द्वारा तो गोली नहीं मारी गयी है?

घटना का एक और वीडियो सामने आया है जिसमें पता चल रहा है कि खेत में खड़े एक पुलिसवाले को देख आक्रोशित भीड़ पथराव करती हुई... मारो-मारो की आवाज़ लगा रही है। ग़ौरतलब है कि इंस्पेक्टर सुबोध कुमार ही दादरी में अख़लाक हत्याकाण्ड के जाँच अधिकारी थे। अख़लाक को भी गौहत्या की अफ़वाह के चलते भीड़ द्वारा मार दिया गया था। अभी सुबोध कुमार का एक पुराना वीडियो आया है जिसमें वह कह रहे हैं कि अख़लाक हत्याकाण्ड की जाँच को प्रभावित करने के लिए उन पर ऊपर से लगातार दबाव बनाया जा रहा था। ज़ाहिर है वह बुलन्दशहर की घटना से पहले से ही कट्टरपन्थी हिन्दू संगठनों के निशाने पर थे।

जागरण अख़बार ने लिखा है कि इंटेलिजेंस की रिपोर्ट में सामने आया है कि छह युवक घटनास्थल से क़रीब 500 मीटर दूर बैठे थे। इन सभी युवकों के चेहरे पर नक़ाब था ताकि उन्हें कोई पहचान ना सके। इसलिए रिपोर्ट में इन युवकों के नाम नहीं दिये गये हैं। अनुमान है कि यही छह युवक पूरे घटनाक्रम के साज़िशकर्ता हो सकते हैं। इनकी तलाश की जा रही है। ये युवक कौन थे और किस मक़सद से वहाँ बैठे थे यह एक गम्भीर सवाल है।

घटना जिस जगह हुई वह चिरगाँवठी गाँव की पुलिस चौकी के पास है। नवभारत टाइम्स की ख़बर के अनुसार गाँव के प्राथमिक और जूनियर माध्यमिक विद्यालय में तीन दिसम्बर को 150 से अधिक छात्रों को समय से पहले सुबह सवा 11 बजे ही मिड डे मील दे दिया गया था। स्कूल में मिड डे मील परोसने वाले राजपाल सिंह ने कहा कि उस दिन उसे भोजन जल्दी वितरित करने और बच्चों को घर भेजने के आदेश मिले थे। इसके अलावा शिक्षकों को भी जल्द घर निकल जाने को कहा गया था। आदेश का कारण बताया गया था कि उस दिन स्थिति खराब हो सकती थी।

बीबीसी हिन्दी ने लिखा है कि "गाँव के ठीक बग़ल में अगर रात को दर्जन भर पशुओं की हत्या हुई भी तो दो बड़े सवालों का जवाब किसी के पास नहीं। पहला ये कि दर्जन भर पशुओं को मारने के लिए कितने लोग पहुँचे थे और कहाँ से आये? फिर वे ग़ायब कैसे हो गये? दूसरा ये कि दर्जन भर पशुओं को मारते समय जो कोलाहल मचता है उसे रात के सन्नाटे में किसी गाँव वाले ने क्यों नहीं सुना?" ये तमाम बातें हैं जो गम्भीर सवाल खड़े करती हैं।

इतनी बड़ी घटना होने के बाद उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ ने पुलिस अधिकारी की हत्या की कठोरता से जाँच करने के बजाय पुलिस को गौहत्या का पता लगाने के आदेश दे दिये। अगर कहीं गौहत्या होगी तो इसकी ज़िम्मेदारी पुलिस और प्रशासन की होगी। मुख्यमन्त्री ने गौहत्या की ज़िम्मेदारी तो तय कर दी लेकिन गाय के नाम पर इंसानों की हत्या की ज़िम्मेदारी किसकी होगी? योगी ने जल्द से जल्द गौ हत्यारों को पकड़ने के आदेश दिये जबकि इंसानों की हत्या को निहायत बेशर्मी के साथ "दुर्घटना" बता दिया।

इस दौरान पुलिस ने हिंसा के मुक़दमे में कुल 27 लोगों को नामज़द किया है जिनमें से 4 की गिरफ़्तारी हो चुकी है। नामज़द लोगों में मुख्य आरोपी योगेश राज बजरंग दल का ज़िला संयोजक है। बजरंग दल का दंगे फैलाने का पुराना इतिहास रहा है। कई साल पहले ऑस्ट्रेलियाई मिशनरी ग्राहम स्टेन्स व उनके दो बच्चों को ज़िन्दा जलाने में भी इसी संगठन के कार्यकर्ता दारासिंह को सज़ा हुई थी। गुजरात दंगे हों या मुज़फ़्फ़रनगर दंगे हर जगह आरएसएस के इस संगठन का नाम आगे रहता आया है। दो साल पहले ख़बर आयी थी कि यह संगठन उत्तर प्रदेश के विभिन्न शहरों में "आत्मरक्षा शिविर" नाम से आतंकी प्रशिक्षण केन्द्र चला रहा है। इन केन्द्रों में कहने को तो आत्मरक्षा सिखाने की बात होती है लेकिन हक़ीक़त में यहाँ अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलायी जाती है और उसे भुनाते हुए उनके क़त्लेआम के लिए हथियारों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

ज़ाहिर है, यह सब एकदम से नहीं हुआ है, इसकी तैयारियाँ काफ़ी समय से चल रही थीं। फिर झूठ की तो आरएसएस और उसके सहयोगी संगठनों ने फ़ैक्टरी लगा रखी है। हिटलर के प्रचार मन्त्री गोएबल्स का कहना था कि अगर किसी झूठ को सौ बार दोहराओ तो वह सच बन जाता है। आरएसएस सहित दुनिया के तमाम फासीवादी इसी मूल मन्त्र पर चलते हैं। और आरएसएस को इसमें ख़ासतौर पर महारत हासिल है। आरएसएस की स्थापना 1925 में हुई थी। उस समय, जबकि सारा देश अंग्रेज़ों से मुक्ति की लड़ाई लड़ रहा था, आरएसएस ने अंग्रेज़ों से सहयोग की नीति अपनायी थी। अंग्रेज़ देश में हिन्दू-मुस्लिम को आपस में लड़वा कर शासन करते थे, उनकी सेवा करते हुए आरएसएस ने यह बख़ूबी सीखा। गौरक्षा समितियाँ भी इस संगठन ने तभी बनानी शुरू कर दी थीं, और तभी से इसके निशाने पर मुसलमान रहे हैं। गोएबल्स के पदचिन्हों पर चलते हुए आरएसएस ने 100 नहीं बल्कि करोड़ों बार यह बात दोहरायी है कि मुसलमान देश के लिए ख़तरा हैं, ये विदेशी हैं। इन्हें भगा देना चाहिए, ख़त्म कर देना चाहिए। और यह कि मुस्लिम जानबूझ कर बीफ़ खाते हैं, ताकि हिन्दुओं को चिढ़ा सकें। लेकिन जो विदेशी, यानी अंग्रेज़, असल में बीफ़ खाते थे, देश को ग़ुलाम बना कर बैठे थे, उनके आरएसएस तलवे चाटता था। अभी कुछ सालों से, यानी बाबरी ध्वंस के बाद से, इन्होंने अपनी ताक़त में लगातार इज़ाफ़ा किया है और इसी दौरान इनके झूठे प्रचार में भी लगातार इज़ाफ़ा होता आया है। अब हर कहीं लगातार दंगे और साम्प्रदायिक हिंसा की ख़बरें आ रही हैं। गुजरात दंगों से पहले भी ये लोग ऐसी घटिया वारदातें करते रहते थे लेकिन उसके बाद से तो इनकी बाढ़ सी आ गयी है। कभी दंगे, कभी विरोधियों की दिन-दिहाड़े सुनियोजित हत्याएँ, तो कभी मॉब लिंचिंग। कभी गाय के नाम पर, कभी लव जिहाद के नाम पर, कभी मन्दिर-मस्जिद के नाम पर।

अच्छे दिन लाने का वायदा करके सत्ता में आयी मोदी सरकार ने पिछले साढ़े चार साल में अच्छे दिन लाने का काम सिर्फ़ पूँजीपतियों के लिए किया है। अपने हर चुनावी वायदे का मज़ाक़ उड़ाते हुए मोदी जी कभी बेरोज़गारों को पकौड़े तलने की सलाह दे रहे हैं तो कभी नोटबन्दी जैसी आपदाएँ पैदा कर रहे हैं। अब जबकि चुनाव आने वाले हैं तो साम्प्रदायिक तनाव लगातार बढ़ाया जा रहा है। और इसके कारण भी ज़ाहिर हैं। पूरी दुनिया सहित भारत भी असाध्य आर्थिक संकट की चपेट में है। पूँजीवादी

(पेज 6 पर जारी)

आँगनवाड़ी एवं आशा कर्मियों के मानदेय में बढ़ोत्तरी की घोषणा

प्रधानमन्त्री का एक और वायदा निकला जुमला!

प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी द्वारा 11 सितम्बर 2018 को आँगनवाड़ी एवं आशा कर्मियों के मानदेय में बढ़ोत्तरी की घोषणा की गयी थी। 'आँगनवाड़ी' और 'आशा' महिलाकर्मियों को मानदेय बढ़ोत्तरी का यह वायदा दिवाली के तोहफ़े के तौर पर किया गया था किन्तु अभी तक भी इस मानदेय बढ़ोत्तरी की एक फूटी कौड़ी भी किसी के खाते में नहीं आयी है! दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन को जिस बात की पहले ही आशंका थी, वही हुआ। यूनियन के द्वारा अपनी पिछली प्रेस कॉन्फ्रेंस में इस बात की आशंका भी जतायी गयी थी। प्रधानमन्त्री द्वारा किये गये वायदे के अनुसार अक्टूबर माह से कार्यकर्त्ताओं के वेतन में 1,500 रुपये और सहायिकाओं के वेतन में 750 रुपये की वृद्धि होनी थी लेकिन अक्टूबर के महीने से बढ़ी हुई यह राशि अब तक किसी महिलाकर्मी को प्राप्त नहीं हुई है। शायद यह राशि मोदी सरकार 15 लाख के साथ ही जोड़ कर भेजने वाली है! पहले सुना करते थे कि झूठ के पैर नहीं होते पर यहाँ तो झूठ के पैर, हाथ, मुँह ही बल्कि साक्षात झूठ के भी दर्शन किये जा सकते हैं! अपने चार साल से अधिक के इस कार्यकाल में मोदी सरकार ने ख़ुद ही यह साबित कर दिया है कि वह 'जुमलों' की ही सरकार है। अमित शाह ने 15 लाख के बारे में खुलेआम कहा था कि वह एक चुनावी जुमला था। अब कुछ दिन पहले नितिन गडकरी भी एक मराठी चैनल पर यह कहते पाये गये थे कि उन्हें लगता था कि उनकी सरकार तो बननी है नहीं इसलिए वायदे कर दिये, अब सरकार तो बन गयी तो उन्हें पूरा कैसे करें?

मोदी सरकार देश के मेहनतकश लोगों, काम करने वालों, युवाओं, छात्रों, महिलाकर्मियों के सामने किये गये वायदों को तो कब की रद्दी की टोकरी में डाल चुकी है, किन्तु इसने धन्ना सेठों की पौ-बारह करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। कहीं पर 2,000 करोड़ तो कहीं पर 3,000 करोड़ रुपये अपने चुनावी फ़ायदे के लिए बुतों-मूर्तियों पर ख़र्च किये जा रहे हैं। पिछले चार सालों में भाजपा अपने प्रचार में ही 5,000 करोड़ से अधिक ख़र्च कर चुकी है। बड़े-बड़े उद्योगपति बैंकों और जनता को हज़ारों करोड़ का चूना लगाकर चम्पत हो रहे हैं किन्तु चौकीदार की नींद नहीं टूटती है बल्कि बहुत मौक़ों पर तो सरकारी शह को साफ़-साफ़ चिन्हित किया जा सकता है! जब मेहनतकशों के हक़-अधिकार की बात आती है तो उन्हें नसीब होते हैं सिर्फ़ झूठे वायदे। यही चीज़ आँगनवाड़ी और आशा महिलाकर्मियों के साथ हुई है। देश के प्रधानमन्त्री महोदय ने जिस जोश में आकर आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के मानदेय में बढ़ोत्तरी के समय अपने गाल थपथपाये थे तो उसी से इस वायदे के पूरा होने पर संशय था। इस वायदे में राज्य सरकारों को भी घसीटा गया था, उन्हें भी बढ़ायी गयी राशि का एक हिस्सा देना था। किन्तु न तो केन्द्र सरकार ने कुछ दिया है और न ही राज्य सरकार ने!

दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन के प्रवक्ता ने कहा कि भाजपा और तमाम वोट के व्यापारी इस बात को समझ लें कि अपने झूठे वायदों और नारों के लिए वक़्त आने पर उन्हें पूरी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। सरकारों के लिए उनके वायदे भले ही जुमले बन जायें किन्तु देश की जनता और आँगनवाड़ी महिलाकर्मी झूठों के पिटारे की असलियत समझ रही है। मोदी और भाजपा का झूठ का सिंहासन सदैव टिका नहीं रहने वाला! आने वाले विधानसभा और लोकसभा के चुनावों में भाजपा को जनता के सामने बोले गये झूठों की क़ीमत चुकानी पड़ेगी।

– बिगुल संवाददाता

लुधियाना में औद्योगिक मज़दूरों की फ़ौरी माँग के मसलों पर मज़दूर संगठनों की गतिविधि और इसका महत्व

लुधियाना उत्तर भारत के बड़े औद्योगिक केन्द्रों में से एक है। यहाँ के कारख़ानों और अन्य संस्थानों में लाखों मज़दूर काम करते हैं। ये मज़दूर भयानक लूट-दमन का शिकार हैं। यह लूट-दमन मालिकों की भी है और पुलिस-प्रशासन की भी। कारख़ाना मज़दूर यूनियन व टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन पिछले लम्बे समय से लुधियाना के मज़दूरों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करने, लामबन्द व संगठित करने में लगे हुए हैं। पिछले एक दशक से भी अधिक समय में इन यूनियनों के नेतृत्व में कई छोटे-बड़े मज़दूर संघर्ष लड़े गये हैं। ये ज़्यादातर संघर्ष कारख़ानों के एक क्षेत्र या एक कारख़ाने से सम्बन्धित रहे हैं। इन संघर्षों का अपना महत्व है। लेकिन इस समय कुल लुधियाना के विभिन्न क्षेत्रों के मज़दूरों को संघर्ष की राह पर लाने की ज़रूरत है। क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले मज़दूरों की जीवन परिस्थितियाँ लगभग एक जैसी हैं। ऐसी लामबन्दी मज़दूरों को संकीर्ण विभागवाद की मानसिकता से भी मुक्त करती है। इस वर्ष के अगस्त महीने के अन्त में दोनों संगठनों के प्रतिनिधियों की एक संयुक्त मीटिंग हुई जिसमें दोनों यूनियनों द्वारा लुधियाना के औद्योगिक मज़दूरों की फ़ौरी माँगों पर साझी लामबन्दी मुहिम चलाने पर सहमति बनी। बाद में दोनों यूनियनों की नेतृत्वकारी कमेटियों ने भी इस मुहिम की योजना को अपनी-अपनी मीटिंगों में पारित किया। इस तरह ट्रेड यूनियनों के अन्दरूनी जनवाद की परम्परा को जारी रखा गया जिस पर ये यूनियनें अपने जन्म से ही पहरा देती आ रही हैं। इस तरह मज़दूरों पर नेताओं के फ़ैसले थोपे नहीं जाते। सभी ही महत्वपूर्ण फ़ैसले यूनियनों की नेतृत्वकारी कमेटियों द्वारा या यूनियनों के सक्रिय कार्यकर्ताओं की विस्तारित मीटिंगों में लिए जाते हैं।

दोनों यूनियनों ने एक महीना लम्बा अभियान चलाना था। इसके लिए बड़े स्तर पर प्रचार सामग्री छपवायी गयी। 63 हज़ार पर्चे व 800 पोस्टर छपवाये गये। इस प्रचार सामग्री में मज़दूरों की माँगों को उभारा गया। पर्चे व पोस्टर के ज़रिये मज़दूरों को 5 अक्टूबर को डीसी कार्यालय लुधियाना पहुँचने का आह्वान किया गया।

दोनों मज़दूर संगठनों के कार्यकर्ताओं द्वारा लगभग एक महीना औद्योगिक मज़दूरों में प्रचार अभियान चलाया गया। इस अभियान में वेहड़ा/कालोनी मीटिंगें, नुक्कड़ सभाएँ, पैदल व साइकिल मार्च, मशाल जुलूस, व घर-घर प्रचार आदि प्रचार रूप अपनाये गये। यह अभियान लुधियाना के औद्योगिक क्षेत्र के एक बड़े हिस्से में चलाया गया। हज़ारों मज़दूरों तक उनके माँग मसलों के बारे में पहुँच की गयी। पंजाब के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय पंजाब स्टूडेण्टस यूनियन व नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ता भी समय-समय पर इस अभियान में शामिल होते रहे। छात्रों-नौजवानों ख़ासकर मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आने वालों का इस अभियान में शामिल होना विशेष महत्व रखता है। इससे इन छात्रों-नौजवानों के लूट-दमन भरे औद्योगिक मज़दूरों के जीवन को नजदीक़ से जानने व मज़दूरों से जुड़ने का अवसर मिलता है।

पिछले लम्बे समय में नोटबन्दी व फिर जीएसटी ने लुधियाना के छोटे उद्योग की कमर तोड़ दी है। बड़े पैमाने पर मज़दूरों का रोज़गार छिना है। जो रोज़गारशुदा मज़दूर हैं, उन्हें भी बहुत कम वेतन पर अपना ख़ून पसीना बहाना पड़ता है। इन दोनों यूनियनों के प्रचार अभियान के दौरान एक बात स्पष्ट तौर पर उभर कर सामने आयी कि मालिकों द्वारा लूट-दमन के खिलाफ़ मज़दूरों में ज़बरदस्त रोष है। मज़दूर स्त्रियों में भी नाममात्र वेतन ख़ासकर मर्द मज़दूरों से भी कम वेतन मिलने पर ज़बरदस्त रोष देखने को मिला।

इस रोष की अभिव्यक्ति 5 अक्टूबर की रैली व प्रदर्शन में भी देखने को मिली। हज़ारों मज़दूर तेज़ धूप में भूखे-प्यासे 18 किलोमीटर पैदल चलकर डीसी कार्यालय पहुँचे। औद्योगिक महानगर लुधियाना में एक लम्बे अर्से के बाद मज़दूर शक्ति का ऐसा जलवा देखने को मिला।

5 अक्टूबर की इस मज़दूर रैली में ग्रामीण मज़दूरों के संगठन पेण्डू मज़दूर यूनियन (मशाल) के साथियों का शामिल होना ख़ास महत्व रखता है। भारत के मज़दूर वर्ग का एक बड़ा हिस्सा गाँवों में बसता है। शहरी मज़दूरों, ग्रामीण मज़दूरों और ग़रीब किसानों की एकता मज़दूर आन्दोलन के विकास के लिए विशेष महत्व रखता है। लुधियाना के आसपास के गाँव शहरी मज़दूरों की रिहायशी बस्तियाँ भी हैं। लुधियाना में बड़े पैमाने पर प्रवासी मज़दूर काम करते हैं। ये पूँजीपतियों के लिए सस्ती श्रम शक्ति का बड़ा स्रोत हैं। जब ये मज़दूर एकजुट होकर अपने अधिकार माँगते हैं, तो हुक्मरान वर्ग क्षेत्र के आधार पर मज़दूरों में फूट डालने की कोशिश करते हैं। इसलिए ग्रामीण मज़दूरों व ग़रीब किसानों को उनकी मन्दहाली के वास्तविक कारणों की समझदारी देना और प्रवासी व स्थानीय मज़दूरों की एकता के निर्माण का ख़ास महत्त्व है।

– बिगुल संवाददाता

लुधियाना में मज़दूरों का विशाल रोष प्रदर्शन

5 अक्टूबर 2018 को मज़दूर संगठनों - कारख़ाना मज़दूर यूनियन, टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन, गोबिन्द रबड़ लिमिटेड मज़दूर संघर्ष कमेटी व पेण्डू मज़दूर यूनियन (मशाल) के नेतृत्व में बड़ी संख्या में इकट्ठा हुए मज़दूरों ने डिप्टी कमिश्नर व पुलिस कमिश्नर के कार्यालयों पर रोषपूर्ण प्रदर्शन करके अपने अधिकार लागू करवाने के लिए माँगपत्र सौंपा। मज़दूरों ने कंगनवाल से लेकर डीसी कार्यालय तक 18 किमी लम्बा पैदल मार्च भी किया। मज़दूरों ने माँग की कि न्यूनतम वेतन बीस हज़ार मासिक हो, किये गये काम के पैसे हड़पने वाले व श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने वाले मालिकों को सख़्त से सख़्त सजायें दी जायें, पन्द्रह सौ से अधिक मज़दूरों का कई महीनों का वेतन आदि का पैसा हड़प करके भागने वाले गोबिन्द रबड़ लिमिटेड के मालिक विनोद पोद्दार को गिरफ़्तार किया जाये और मज़दूरों का सारा पैसा दिलाया जाये, कारख़ानों में हादसों से सुरक्षा के प्रबन्ध, पहचान पत्र, हाज़िरी, ईएसआई, ईपीएफ़, स्त्रियों को मर्दों के बराबर वेतन व अन्य सभी श्रम क़ानून लागू हों। मज़दूर बस्तियों में साफ़-सफ़ाई, पानी, बिजली, पक्की गलियाँ आदि सहूलियतें लागू हों। ग़रीब आबादी वाले इलाक़ों में सरकारी अस्पताल और डिस्पेंसरियाँ खोली जायें। ग़रीबों को सरकारी स्कीमों के तहत सारी सहूलियतों की गारण्टी हो। सरकारी विभागों में ग़रीबों के साथ भेदभाव बन्द हो।

पुलिस कमिश्नर को सौंपे गये माँगपत्र में माँग की गयी कि 1500 से अधिक मज़दूरों से करोड़ों रुपये की धोखाधड़ी करने वाले गोबिन्द रबड़ लिमिटेड के मालिक विनोद पोद्दार को तुरन्त गिरफ़्तार किया जाये और मज़दूरों की मेहनत का सारा पैसा दिलाया जाये।

डिप्टी कमिश्नर को लुधियाना ज़िले के ग्रामीण मज़दूरों की मज़दूरी में वृद्धि, बिजली बिल माफ़ करने, क़र्ज़ माफ़ी, नरेगा के जॉब कार्ड बनाने व किये काम के पैसे की अदायगी आदि मसलों के लिए भी एक माँगपत्र सौंपा गया।

मज़दूरों की सभा को कारख़ाना मज़दूर यूनियन के अध्यक्ष लखविन्दर, टेक्सटाइल हौज़री कामगार यूनियन के अध्यक्ष राजविन्दर, गोबिन्द रबड़ लिमिटेड मज़दूर संघर्ष कमेटी के संयोजक कृष्ण कुमार, पेण्डू मज़दूर यूनियन (मशाल) के नेता सुखदेव भूँदड़ी, बिगुल मज़दूर दस्ता की नेता बलजीत आदि ने सम्बोधित किया। इनके अलावा मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्स यूनियन के अध्यक्ष हरजिन्दर सिंह आदि ने सम्बोधित किया।

इस प्रदर्शन की तैयारी के लिए कारख़ाना मज़दूर यूनियन व टेक्सटाइल हौज़री कामगार यूनियन द्वारा एक महीने तक लुधियाना की मज़दूर आबादी में अभियान चलाया गया था जिसके दौरान नुक्कड़ सभाओं, पैदल मार्च, मशाल मार्च, साइकिल रैलियों, घर-घर प्रचार आदि रूपों में प्रचार किया गया। बड़ी संख्या में पर्चा बाँटा गया और पोस्टर लगाये गये। इस प्रचार अभियान के दौरान लाखों मज़दूरों तक अपने अधिकारों के लिए एकजुट होने का सन्देश पहुँचाया गया। **– बिगुल संवाददाता**

हरियाणा रोडवेज़ की 18 दिन चली हड़ताल की समाप्ति पर कुछ विचार बिन्दु

यह ऐतिहासिक हड़ताल निजीकरण के रूप में जनता पर सरकारी हमले का जवाब देने में कहाँ तक कामयाब रही?

- इन्द्रजीत

रोडवेज़ कर्मचारियों को हड़ताल पर क्यों जाना पड़ा?

आपको ज्ञात होगा कि हरियाणा में रोडवेज़ कर्मचारियों ने निजीकरण के खिलाफ़ एक शानदार हड़ताल की। हरियाणा सरकार द्वारा रोडवेज़ के निजीकरण के प्रयासों के ख़िलाफ़ 'हरियाणा रोडवेज़ तालमेल कमेटी' के आह्वान पर हड़ताल शुरू हुई थी। हरियाणा रोडवेज़ विभाग का निर्माण 1966 को राज्य के गठन के समय ही किया गया था तथा 1970 में प्रदेश की प्राइवेट बसों का राष्ट्रीयकरण करके विभाग के बेड़े का विस्तार किया गया था। रोडवेज़ विभाग 1991 तक अपने लक्ष्यों-उद्देश्यों में काफ़ी हद तक कामयाब रहा। 1991 यानी उदारीकरण-निजीकरण-वैश्विकरण की नीतियों की शुरुआत के बाद हरियाणा में बनी तक़रीबन सभी सरकारें रोडवेज़ विभाग को बर्बाद करके इसका निजीकरण करने हेतु प्रयासरत रही हैं किन्तु मौजूदा भाजपा की मनोहर लाल खट्टर सरकार ने सबको पीछे छोड़ दिया है। भाजपा राज में पिछले क़रीब साढ़े चार साल के दौरान रोडवेज़ के बेड़े में मात्र 62 नयी बसें शामिल की गयीं जबकि हर साल सैकड़ों बसें नकारा हो जाती हैं। अब सरकार 720 निजी बसों को किलोमीटर स्कीम के तहत रोडवेज़ विभाग में शामिल करना चाहती है। प्रति किलोमीटर के हिसाब से एक बस पर सरकारी ख़र्च क़रीब 52 से 55 रुपये पड़ेगा जबकि रोडवेज़ की बस पर औसतन 46 रुपये ख़र्च आता है और यह तो तब है जब रोडवेज़ यात्री-सेवा में विभिन्न तबक़ों को छूट देती है, जबकि प्राइवेट बसों में किसी को ठेंगा भी नहीं मिलेगा। और तो और परिचालकों तक का वेतन भी सरकारी खाते से वहन किया जायेगा। कर्मचारियों की राज्यव्यापी हड़ताल का निजीकरण ही प्रमुख मुद्दा बना। सरकार लगातार रोडवेज़ के घाटे का रोना रोती रही है। सरकार का कहना है कि रोडवेज़ विभाग 680 करोड़ के घाटे में चल रहा है किन्तु यह बात सरकार छुपा जाती है कि तमाम अधिकारी सामान की ख़रीद-फ़रोख्त में कितने की घपलेबाज़ी करते हैं? सरकार यह भी नहीं बताती कि विभिन्न चुनावी सभाओं में मुफ़्त यात्रा की जो घोषणाएँ सरकार के मन्त्री-सन्तरी कर देते हैं, उनकी पूर्ति कहाँ से होगी? रोडवेज़ 45 श्रेणियों को यात्रा करने में किराया छूट की सुविधा प्रदान करती है जिसमें बुज़ुर्गों, बीमारों, छात्रों को यात्रा-सेवा में छूट शामिल है, प्रदेश की क़रीब 80 हज़ार छात्राओं को हरियाणा रोडवेज़ निःशुल्क बस पास की सुविधा देती है, कहना नहीं होगा कि हरियाणा में बड़ी संख्या में लड़कियों की पढ़ाई करने के पीछे रोडवेज़ का अहम योगदान है। यदि सारी सब्सिडी जोड़ दी जाये तो यह सैकड़ों करोड़ में बैठती है। सरकार यह भी नहीं बताती कि रोडवेज़ विभाग में यदि पद ख़ाली पड़े रहेंगे और कर्मचारियों की कमी से बसें खड़ी रहेंगी तो कमाई भला कैसे होगी? परिचालकों की संख्या तो पर्याप्त है ही नहीं। इसके अलावा 1993 के बाद से सरकारों द्वारा वर्कशॉप में कोई भी नया कर्मचारी भर्ती नहीं किया गया, केवल प्रशिक्षुओं से ही काम चलाया जा रहा है। कर्मचारियों को बदनाम करने के मक़सद से रोडवेज़ विज्ञापनों पर भी करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाती रही है। क्या रोडवेज़ कर्मचारियों को जनता के बीच बदनाम करके और करोड़ों रुपये का नुक़सान करके रोडवेज़ के घाटे की पूर्ति हो सकती है?

रोडवेज़ के निजीकरण का मतलब है हज़ारों रोज़गारों में कमी करना। केन्द्र सरकार के ही नियम के अनुसार 1 लाख की आबादी के ऊपर 60 सार्वजनिक बसों की सुविधा होनी चाहिए। इस लिहाज़ से हरियाणा की क़रीब 3 करोड़ की आबादी के लिए हरियाणा राज्य परिवहन विभाग के बेड़े में कम से कम 18 हज़ार बसें होनी चाहिए किन्तु फ़िलहाल बसों की संख्या मात्र 4200 है। हम आपके सामने कुछ आँकड़े रख रहे हैं जिससे 'हरियाणा की शेरनी' और 'शान की सवारी' कही जाने वाली रोडवेज़ की बर्बादी की कहानी आपके सामने ख़ुद-ब-ख़ुद स्पष्ट हो जायेगी। 1992-93 के समय हरियाणा की जनसंख्या 1 करोड़ के आस-पास थी तब हरियाणा परिवहन विभाग की बसों की संख्या 3500 थीं तथा इन पर काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या 24 हज़ार थी जबकि अब हरियाणा की आबादी 3 करोड़ के क़रीब है किन्तु बसों की संख्या 4200 है तथा इन पर काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या 19 हज़ार ही रह गयी है। पिछले 25 सालों के अन्दर चाहे किसी भी पार्टी की सरकार रही हो लेकिन हरियाणा रोडवेज़ की सार्वजनिक बस सेवा की हालत लगातार खस्ता होती गयी है। रोडवेज़ की एक बस पर 6 युवाओं को रोज़गार मिलता है। यदि रोडवेज़ के बेड़े में 14 हज़ार नयी बसों को शामिल किया जाता है तो क़रीब 85 हज़ार युवा रोज़गार पायेंगे तथा आम जनता को सुविधा होगी वह अलग। सरकारों में बैठे लोग अपने लग्गू-भग्गुओं को लाभ पहुँचाने के मक़सद से रोडवेज़ में निजीकरण को बढ़ावा दे रहे हैं। मौजूदा 720 बसों के परमिटों की बन्दर-बाँट भी कुछ ही गिने-चुने धन्नासेठों और लग्गू-भग्गुओं के बीच की गयी है।

रोडवेज़ कर्मचारियों के संघर्ष का इतिहास लम्बा है। यदि मौजूदा कुछ संघर्षों की बात की जाये तो 5 सितम्बर को हड़ताल पर गये कर्मचारियों पर सरकार ने एस्मा एक्ट (Essential Services Maintenance Act) लगा दिया था। हड़ताल पर गये कर्मचारियों को पुलिस के द्वारा प्रताड़ित किया गया तथा कइयों को नौकरी से निलम्बित (सस्पेण्ड) कर दिया गया। जनता के हक़ में खड़े कर्मचारियों पर सरकार दमन का पाटा चलाती रही है। 10 सितम्बर को भी विधानसभा का घेराव करने जा रहे 20 हज़ार कर्मचारियों का, जिनमें रोडवेज़ कर्मचारी भी शामिल थे, पुलिस द्वारा भयंकर दमन किया गया। पंचकुला में उनका स्वागत लाठी, आँसू गैस, पानी की बौछारों के साथ किया गया। मतलोडा कैम्प कार्यालय पर प्रदर्शन कर रहे कर्मचारियों का भी हरियाणा सरकार व पुलिस ने दमन किया जिसमें कइयों को गम्भीर चोटें आयीं तथा 250 के क़रीब को एस्मा के तहत निलम्बित कर दिया तथा बहुतों पर झूठे मुकदमे भी दर्ज कर लिए गये। तब अन्त में जाकर रोडवेज़ कर्मचारियों ने अपनी तालमेल कमेटी के आह्वान पर निजीकरण के ख़िलाफ़ 16-17 अक्टूबर को प्रदेशव्यापी हड़ताल का फ़ैसला लिया था।

18 दिन चली ऐतिहासिक हड़ताल का घटनाक्रम और व्यापक जन समर्थन

मौजूदा हड़ताल को नेतृत्व देने वाली तालमेल कमेटी को हरियाणा रोडवेज़ में कार्यरत सभी प्रमुख सात यूनियनों व तक़रीबन सभी कर्मचारियों का समर्थन प्राप्त था। कर्मचारियों ने सरकारी दुष्प्रचार के जवाब में अपनी बात जनता तक पहुँचायी और काफ़ी हद तक कर्मचारी इसमें कामयाब भी रहे। प्रदेश के कर्मचारियों की अन्य यूनियनों ने डण्के की चोट पर रोडवेज़ कर्मियों का समर्थन किया और उनका साथ दिया। बिजली विभाग के कर्मचारी, अध्यापक, नगर निगमों और परिषदों के कर्मचारी, किसान यूनियनें, मज़दूरों के संगठन, छात्र संगठन आदि-आदि रोडवेज़ की हड़ताल का हर प्रकार से समर्थन-सहयोग कर रहे थे। गाँवों की पंचायतें तक कर्मचारियों के समर्थन में आ रही थीं। तथा यह समर्थन-सहयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ ही रहा था। समझौता बैठकों में कर्मचारी नेताओं ने कहा कि वे निजी बस की जगह रोडवेज़ के बेड़े में सरकारी बस शामिल करने की स्थिति में अपना एक माह का वेतन और दो साल का भत्ता तक छोड़ने के लिए तैयार हैं। कर्मचारियों ने अपने वेतन का 20 प्रतिशत 10 माह तक देने की भी बात की। इन्हीं सब कारणों से निजीकरण के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई में रोडवेज़ कर्मचारी जनता तथा अन्य कर्मचारियों के बड़े हिस्से का समर्थन जीतने में कामयाब रहे। यह हड़ताल 16 अक्टूबर को शुरू हुई थी तथा इसे 3 नवम्बर को वापस ले लिया गया। 18 दिन से चल रही हरियाणा रोडवेज़ की ऐतिहासिक हड़ताल पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट की दख़ल के बाद वापस ली गयी। 3 नवम्बर को सभी कर्मचारी काम पर चले गये। यह हड़ताल शुरू में 2 दिन के लिए ही आहूत थी, किन्तु सरकार द्वारा हठधर्मिता दिखाये जाने और वार्ता के लिए सामने न आने के कारण इसे क्रमशः दो दिन फिर तीन-तीन और फिर चार-चार दिनों के लिए बढ़ाया जाता रहा। इस प्रकार कुल मिलाकर हड़ताल 18 दिन तक चली। इस दौरान दो बार वार्ताएँ हुईं; एक बार अधिकारी स्तर पर तो एक बार मन्त्री स्तर पर। किन्तु सरकार पूरी तरह से 720 निजी बसों को परमिट देने पर अड़ी रही। यही नहीं सरकार के मन्त्रीगण कर्मचारियों को यह नसीहत भी देते रहे कि नीतियाँ बनाने का काम सरकार का है व कर्मचारियों को इसमें अड़ंगा नहीं डालना चाहिए। कहने का मतलब कोल्हू के बैल की तरह बिना सींग-पूँछ हिलाये गुलामों की तरह अपने काम से काम रखना चाहिए। सरकार का कहना था कि 720 प्राइवेट बसें तो आयेंगी ही और यदि ज़रूरत पड़ी तो और भी निजी बसें लायी जायेंगी। निश्चित तौर पर रोडवेज़ के निजीकरण के ख़िलाफ़ किया जा रहा रोडवेज़ कर्मचारियों का संघर्ष जनता के हक़ में लड़ा जा रहा संघर्ष था। हरियाणा रोडवेज़ का निजीकरण सीधे तौर पर जनता के ऊपर कुठराघात साबित होगा। तमाम राज्यों में परिवहन विभागों को निगम बनाये जाने और बर्बाद किये जाने की कहानी हमारे सामने है ही। यही कारण है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जनता का समर्थन और सहानुभूति रोडवेज़ कर्मचारियों के साथ थी। शान्तिपूर्ण तरीक़े से हड़ताल पर जाने का अधिकार भी पूरी तरह से संविधानसम्मत है। इतना सब होने के बावजूद 720 निजी बसों को परमिट दिये जाने की माँग धरी की धरी रह गयी और हड़ताल वापस ले ली गयी।

हड़ताल की वापसी

कहना नहीं होगा कि रोडवेज़ की मौजूदा हड़ताल में एक जनान्दोलन बनने की कुव्वत थी। सरकार तमाम प्रयासों के बावजूद भी इसका दमन करने में कामयाब नहीं हो सकी। जनता के विभिन्न तबक़े तो हड़ताल का खुला समर्थन कर ही रहे थे किन्तु मज़ेदार बात यह है कि पिछली सरकारों और प्रमुख चुनावी दलों के कर्त्ता-धर्त्ता भी धरना स्थलों पर आकर हड़ताल को मौखिक समर्थन देने के लिए मज़बूर हुए। ये सब चीज़ें दिखाती हैं यह हड़ताल समाज में अन्दर तक पैठने की ताक़त रखती थी। निश्चित तौर पर कर्मचारियों की एकता और निरन्तर मौजूद रहे जुझारू तेवर ज़रूर क़ाबिले-तारीफ़ हैं किन्तु आनन-फ़ानन में हड़ताल को वापस लिया जाना कई बिन्दुओं पर सोचने के लिए हमें विवश अवश्य करता है।

हड़ताल वापस लिए जाने के चन्द रोज़ पहले ही डाली गयी एक जनहित याचिका पर सुनवाई करते हुए हाईकोर्ट ने कहा कि हड़ताल किसी समस्या का कोई समाधान नहीं होता व यदि इससे दिक़्क़तों का हल होना होता तो हम भी हड़ताल पर बैठ जाते! दूसरा उन्होंने कहा कि गाँधी जी ने तो विदेशी ताक़त के खिलाफ़ हड़ताल की थी पर कर्मचारी तो अपनों के खिलाफ़ ही हड़ताल कर रहे हैं। ताज्जुब की बात यह है कि कुछ दिन पहले ही कोर्ट ने रोडवेज़ कर्मियों की हड़ताल के सन्दर्भ में ही कहा था कि हड़ताल ग़ैर-क़ानूनी नहीं है तथा हरेक को अपनी बात रखने और शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध जताने का हक़ है। कोर्ट की तरफ़ से सरकार को भी नसीहत दी गयी है कि मिल-बैठकर बातचीत से मामले को सुलझायें। कोर्ट की अगली तारीख़ तक सरकार और रोडवेज़ तालमेल कमेटी बातचीत से हल निकालें तथा कोर्ट भी इस स्थिति में मध्यस्थता करने के लिए तैयार रहेगा। सरकार अन्त तक अपनी बात से टस से मस नहीं हुई। यही नहीं 1 नवम्बर यानी बृहस्पतिवार के दिन खट्टर सरकार ने अपनी तथाकथित फ़ाइनल नोटिस जारी कर दी थी कि 2 नवम्बर तक सभी कर्मचारी वापस काम पर लौट जायें नहीं तो उनके ख़िलाफ़ क़ानूनी और विभागीय कार्रवाइयाँ और भी तेज़ कर दी जायेंगी तथा काम से बर्ख़ास्त कर दिया जायेगा। 18 दिनों की हड़ताल के दौरान 1200 एफ़आईआर दर्ज की गयीं, 400 से अधिक कर्मचारियों को सस्पेण्ड तथा 350 से अधिक को बर्ख़ास्त किया गया, 1000 से ज़्यादा को चार्जशीट दिया गया। कर्मचारियों पर लगाये गये विभिन्न केस, मुकदमे भी 14 नवम्बर यानी अगली तारीख़ तक मुल्तवी कर दिये गये थे, ध्यान रहे इन्हें अभी ख़ारिज नहीं किया गया है। अब 12 तारीख़ को रोडवेज़ विभाग के साथ तालमेल कमेटी के नेताओं की बात हो चुकी है किन्तु अब भी वही ढाक के तीन पात हैं। कोर्ट की 14 नवम्बर की पेशी में भी मुद्दे का कोई समाधान नहीं निकला। अगली तारीख़ 29 नवम्बर की दे दी गयी। फ़िलहाल तक कर्मचारियों के ऊपर लगे केस-मुकदमे ख़ारिज नहीं किये गये हैं। खट्टर महोदय तो कर्मचारियों के साथ सीधे मुँह बात तक करने के लिए तैयार नहीं हैं। रोडवेज़ तालमेल कमेटी के द्वारा सरकारी फ़रमान के जवाब में 4 नवम्बर को जींद में रैली की घोषणा की गयी थी किन्तु इसे भी कोर्ट की कार्रवाई के बाद वापस ले लिया गया। परिवहन मन्त्री कृष्ण लाल पँवार हड़ताल ख़त्म होने पर ख़ुद की पीठ थपथपा रहे थे तथा उनकी बोली-भाषा में कोई फ़र्क़ नहीं आया था। दीवाली के मौक़े पर चारों तरफ़ शुभकामनाएँ देने और लेने का आलम छाया रहा। सभी एक-दूसरे को दिवाली और 18 दिन की हड़ताल की बधाई दे रहे थे। सरकार भी ख़ुश थी, कर्मचारी नेता भी इसे अपनी जीत बता रहे थे तथा कोर्ट की तो बात पर ही अमल हुआ था! किन्तु जनता और आम कर्मचारियों के मन-मस्तिष्क में चन्द सवालात ज़रूर उमड़-घुमड़ रहे थे।

दिल्ली परिवहन निगम (डीटीसी) के ठेका कर्मचारियों की हड़ताल : एक रिपोर्ट

देश की राजधानी दिल्ली में दिल्ली परिवहन निगम (डीटीसी) के ठेका (अनुबन्धित) कर्मचारी समान काम-समान वेतन व अन्य श्रम-क़ानूनी माँगों को लेकर 22 अक्टूबर 2018 से डीटीसी कॉण्ट्रैक्चुअल एम्लाइज यूनियन के बनैर तले पहले एक दिन की और फिर अनिश्चितकालीन हड़ताल पर बैठे थे। यह हड़ताल लगभग 15 दिन चली थी। रिपोर्ट लिखे जाने तक हड़ताल के दौरान नौकरी से निकाले गये लगभग 100 से 150 कर्मचारी अभी-भी अपनी माँगों को लेकर संघर्षरत हैं।

हड़ताल पर जाने के तात्कालिक कारण

डीटीसी विभाग में ठेके (अनुबन्ध) पर काम करने वाले ड्राइवर (4000) और कण्डक्टर (8000) को मिलाकर 12,000 कर्मचारी हैं। हालाँकि लम्बे समय से डीटीसी के ये ठेका कर्मचारी बुनियादी श्रम अधिकार भी न मिलने के कारण परेशान थे। इस साल के अगस्त माह में जब दिल्ली हाईकोर्ट का दिल्ली सरकार द्वारा बढ़ायी गयी न्यूनतम मज़दूरी पर रोक लगा दी गयी थी; जिसके कारण कर्मचारियों के वेतन में लगभग 4 से 5 हज़ार रुपये कम हो गये थे। वेतन कम होने के बाद इन कर्मचारियों की बैठक हुई और फ़ैसला किया गया वेतन कम होने, समान काम-समान वेतन व अन्य माँगों को लेकर कर्मचारी 22 अक्टूबर को एक दिन की हड़ताल करेंगे। इस एक दिन की हड़ताल में कर्मचारियों के साथ एक्टू (चुनावबाज़ संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टी सीपीआई (माले-लिबरेशन) का मज़दूर फ्रण्ट) की भागीदारी भी थी। 22 अक्टूबर की शाम को ही दिल्ली सरकार ने इस हड़ताल की अगुवाई कर रहे 8 कर्मचारियों को नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिया था। ऐसे में इन कर्मचारियों ने फ़ैसला लिया कि बर्ख़ास्त कर्मचारियों को वापस लेने व अन्य माँगों को लेकर अब अनिश्चितकालीन हड़ताल की जायेगी। कर्मचारियों के इस फ़ैसले से एक्टू सहमत नहीं था; उनका कहना था कि बस एक दिन की प्रतीकात्मक हड़ताल से ही सरकार पर दबाव बनाया जा सकता है। ऐसे में डीटीसी कर्मचारियों ने सीटू को अपनी अनिश्चितकालीन हड़ताल से पूरी तरह अलग करने का फ़ैसला किया।

हड़ताल के दौरान का घटनाक्रम

डीटीसी के मुख्यालय कार्यालय इन्द्रप्रस्थ डिपो पर अनिश्चितकालीन हड़ताल के धरने पर बैठे डीटीसी के ठेका कर्मचारियों से दिल्ली की सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था कापफी हद प्रभावित हो गयी थी। सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिल्ली सरकार द्वारा बढ़ी हुई न्यूनतम मज़दूरी को ही लागू करने के फ़ैसले के बाद इन कर्मचारियों का वेतन में हो रही कटौती तो रुक गयी; पर इन कर्मचारियों की अन्य माँगों पर दिल्ली सरकार चुप्पी ही साधे रही। हड़ताल के सातवें दिन "आम आदमी की रहनुमा" बनने वाली केजरीवाल सरकार ने इन हड़ताली कर्मचारियों 'एस्मा' लगाकर कर्मचारियों की आवाज़ को दबाने और डराने की कोशिश की। हालाँकि 'एस्मा' लगने के बावजूद भी कर्मचारी हड़ताल पर डटे रहे और सरकार पर दबाव बनाने के लिए एक महिला कर्मचारी सहित पाँच कर्मचारी डीटीसी मुख्य कार्यालय के धरनास्थल पर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठ गये। चार दिन बाद यूनियन की सहमति से भूख हड़ताल ख़त्म की गयी। दिल्ली सरकार के खिलाफ़ हो रही इस हड़ताल से राजनीतिक फ़ायदा लेने के लिए भाजपा के दिल्ली के प्रदेश अध्यक्ष मनोज तिवारी ने उनकी पार्टी की ओर से इस हड़ताल का समर्थन देने का ढोंग किया और धरनास्थल पर कर्मचारियों से उन्होंने कहा कि वे कर्मचारियों के साथ उनकी समस्या को लेकर दिल्ली उप राज्यपाल से मिलने जायेंगे; पर उस दिन के बाद से वह कही नज़र नहीं आये। जिस समय मनोज तिवारी और उनकी पार्टी (भाजपा) दिल्ली में केजरीवाल सरकार द्वारा डीटीसी को हटाकर निजी बसों (कल्स्टर बस) को बढ़ावा देने का विरोध करने की नौटंकी कर रहे थे; उसी दौरान ही भाजपा शासित खट्टर सरकार द्वारा हरियाणा की परिवहन व्यवस्था का निजीकरण किये जाने के खिलाफ़ हरियाणा रोडवेज़ बस कर्मचारियों की हड़ताल भी चल रही थी।

इस हड़ताल से दिल्ली की सार्वजनिक बस सेवा प्रभावित न हो ऐसे में दिल्ली सरकार द्वारा डीटीसी के अन्य कर्मचारियों (जैसे टिकट चैकर, कार्यालय में बैठने वाले कर्मचारी, फीटर आदि) से बसों में कण्डक्टर का काम कराया जा रहा था। इस हड़ताल के सन्दर्भ में दिल्ली के श्रम मन्त्री गोपाल राय व दिल्ली के परिवहन मन्त्री कैलाश गहलोत मीडिया में यही बयान देकर पल्ला झाड़ते रहे कि यह हड़ताल भाजपा द्वारा प्रायोजित है। 22 अक्टूबर से चल रही यह हड़ताल (बिना किसी ठोस योजना के) आखिरकार 15 दिन बाद 5 नवम्बर को टूट गयी और आधे से ज़्यादा कर्मचारी वापस काम पर चले गये।

हड़ताल के सकारात्मक पहलू

इस हड़ताल में डीटीसी के सभी ठेका कर्मचारियों ने मिलकर दिल्ली सरकार द्वारा डीटीसी को हटाकर प्राइवेट बसों को बढ़ावा देने की नीति का विरोध किया। हड़ताल के दौरान दलाल ट्रेड यूनियन 'एक्टू' की असलियत सामने आयी और ठेका कर्मचारियों द्वारा एक्टू का विरोध हुआ और इन्हें हड़ताल से भगा दिया गया। दिल्ली सरकार द्वारा एस्मा लगने के बाद भी कर्मचारी नहीं डरे थे।

हड़ताल के नकारात्मक पहलू

डीटीसी में कार्यरत 12000 ठेका कर्मचारियों (कण्डक्टर व ड्राइवर) में से लगभग 11000 हड़ताल पर थे और लगभग 4 से 5 हज़ार कर्मचारी हड़ताल स्थल पर भी आते थे। इतने कर्मचारियों के साथ भी यूनियन दिल्ली सरकार पर कोई दबाव नहीं बना पायी। हड़ताल टूटने का मुख्य कारण डीटीसी की ठेका यूनियन के नेतृत्व द्वारा हड़ताल को नियमित चलाने की सही योजना न बना पाना था; 10 से 11 दिन हड़ताल चलने के बाद कर्मचारियों को लगने लगा था कि सरकार पर कोई दबाव नहीं बना रहा है। देशभर में निजीकरण और ठेकाकरण को बढ़ावा देने वाली भाजपा पार्टी के नेताओं का हड़ताल स्थल आना और डीटीसी कर्मचारियों द्वारा ज़िन्दाबाद के नारे लगाना व मीडिया में 'डीटीसी की हड़ताल को भाजपा का पूर्ण समर्थन' ख़बरों से इस हड़ताल को नुक़सान हुआ। डीटीसी ठेका कर्मचारियों की यूनियन पर अर्थवाद हावी रहा; समान काम-समान वेतन की माँग को ही मुख्य माँग बनाकर ही हड़ताल चलती रही; इसी कारण कभी भी कर्मचारी दिल्ली सरकार पर राजनीतिक दबाव बना ही नहीं पाये। दिल्ली के मुख्यमन्त्री केजरीवाल का चुनाव से पहले वायदा था कि सभी ठेका कर्मचारियों को स्थाई किया जायेगा; डीटीसी के ठेका कर्मचारियों को केजरीवाल के इसी वायदे को मुख्य रूप से लेकर दिल्ली सरकार पर दबाव बनाना चाहिए था। कुल मिलाकर डीटीसी के ठेका कर्मचारियों की यह हड़ताल असफल ही रही।

इस हड़ताल को नौजवान भारत सभा के सदस्यों ने भी सक्रिय समर्थन दिया। हड़ताल स्थल पर नियमित रूप से जाकर हड़ताल के समर्थन में नारे व क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की गयी। नौभास द्वारा हड़ताल के समर्थन में एक पर्चा भी निकाला गया। कर्मचारियों द्वारा दिल्ली के परिवहन मन्त्री के घेराव में नौभास के सदस्यों की भागीदारी रही।

– बिगुल संवाददाता

हरियाणा रोडवेज़ की हड़ताल

(पेज 5 से आगे)

जैसे, अभी तो लोहा गर्म हुआ था फिर चोट क्यों नहीं की गयी? जनता की सहानुभूति जब सक्रिय समर्थन और सहयोग में बदल रहा था तो हड़ताल वापस क्यों ले ली गयी? क्या नेतृत्व को 18 दिन के बाद यह समझ में आया कि कोर्ट की मध्यस्थता और बात-चीत से भी हल निकाला जा सकता है? क्या इससे पहले मामला कोर्ट में गया ही नहीं था या फिर सरकार के साथ निजीकरण के मुद्दे पर वार्ताएँ हुई ही नहीं थी? सबसे बड़ा सवाल कि क्या 18 दिन के संघर्ष के परिणाम को देखते हुए पुनः कर्मचारियों को एक बैनर के नीचे लाना सम्भव होगा? क्या पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट रोडवेज़ के निजीकरण के विभिन्न पक्षों-पहलुओं से अभी तक अनजान था? रोडवेज़ का निजीकरण करके सरकार जनहित का कौन सा काम साधना चाहती है? इनमें से कुछ सवालों का जवाब तो वक़्त के साथ हमें मिल ही जायेगा तथा कुछ सवाल आगे के संघर्षों में हमें सावधान रहना सिखायेंगे।

यह सम्भव है कि हमारा संघर्ष आज फ़िलहाली तौर पर आंशिक जीत दर्ज़ करे। किन्तु लड़ाई के असल मुद्दे पर कोई ठोस आश्वासन, वायदा, स्टे लिये बिना ही संघर्ष को ख़त्म कर देना या फिर मुल्तवी कर देना कहाँ तक उचित है? कभी-कभी आन्दोलनों में पीछे भी हटना पड़ सकता है किन्तु सम्भावनासम्पन्न होने के बावजूद भी पीछे हटना जनता के बीच शंका ज़रूर पैदा करता है। तमाम कर्मचारियों को इस शानदार हड़ताल के लिए तथा आम जनता को सक्रिय समर्थन के लिए सलाम बनता है। किन्तु यूनियन जनवाद और वास्तविक सामूहिक नेतृत्व की कमी पर ध्यान दिया जाना चाहिए था तथा साथ ही जनता की सहानुभूति और सहयोग को आन्दोलन की शक्ल नहीं दे पा सकने की कमी को भी दुरुस्त किये जाने की आवश्यकता है। निजीकरण के रूप में जनता पर किया गया यह सरकारी हमला न तो पहला हमला है और न ही आख़िरी। रोडवेज़ की व्यापक हड़ताल ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनता से जुड़े आन्दोलन आसानी से नहीं कुचले जा सकते। रोडवेज़ की हड़ताल ने व्यापक हड़तालों और आन्दोलनों की सम्भावना-सम्पन्नता की तरफ़ भी इशारा किया है। आगे और भी ज़ोर-शोर से हमें संगठित आन्दोलन खड़े करने होंगे। सही विचारधारा और सही संगठन शक्ति के बिना आन्दोलन हार का खारा स्वाद चख सकते हैं और सही विचारधारा पर अमल और सही रूप में संगठित ताक़त हमारी जीत की गारण्टी बन सकते हैं।

बुलन्दशहर की हिंसा : किसकी साज़िश?

(पेज 3 से आगे)

व्यवस्था को इससे उबरने का कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा है। असल में होता यह है कि पूँजीवाद में समाज की तमाम सम्पत्ति चन्द लोगों के पास आ जाती है और बहुसंख्यक मेहनतकश मज़दूर, किसान और निम्न मध्यवर्ग लगातार वंचित होकर पिसता चला जाता है। जब पूँजीवाद का संकट आता है तो हालात और बदतर होने लगते हैं। बड़े पैमाने पर मज़दूरों की छँटनी होती है, बेरोज़गारी फैलती है, छोटे धन्धे बन्द होने लगते हैं। भुखमरी, बेरोज़गारी से त्रस्त जनता में आक्रोश बढ़ता जाता है और इस समय कोई सही क्रान्तिकारी शक्ति नेतृत्व देने के लिए हो तो क्रान्ति होने की सम्भावना भी बढ़ने लगती है। ऐसे में पूँजीपति वर्ग के पास एक ही चारा बचता है। वह होता है फासीवाद की शरण में जाने का। फासीवाद एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है जो अपना आधार समाज के तमाम संस्तरों में बनाता है। अधिकतर मध्यवर्ग में और काफ़ी हद तक मज़दूरों में भी। यह जनता का ध्यान मुख्य समस्या से हटाने के लिए एक काल्पनिक शत्रु का निर्माण करता है। जर्मनी में हिटलर की पार्टी ने यहूदियों को शत्रु बताया था। भारत में आरएसएस मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों को बताता है। फासीवाद झूठा प्रचार करता है कि यह कथित शत्रु ही समस्याओं का असली कारण है। और असली समस्याएँ भी भुखमरी, अशिक्षा, महँगाई और बेरोज़गारी नहीं बल्कि लव जिहाद, गौहत्या और मन्दिर-मस्जिद हैं। इन समस्याओं के हल के लिए वह "फ़ाइनल सॉल्यूशन" देता है कि इस कथित शत्रु को ख़त्म कर दिया जाना चाहिए। इसी झूठी चीज़ का करोड़ों बार प्रचार करके इसे सच बनाने की कोशिश की जाती है। फासीवाद पुराने अतीत की महानता का गौरवगान करता है, अपने धर्म और नस्ल को सर्वश्रेष्ठ बताता है, देश-धर्म को ख़तरे में बताता है, युद्ध और सेना का गुणगान करता है, सस्ती देशभक्ति का प्रचार करता है। इनसे लोगों को लगता है कि अहा! यही तो स्वर्ग है। जबकि असल में यह घृणित फासीवादी नरक होता है। लोगों का ध्यान भटकाकर और उन्हें आपस में लड़वाकर फासीवाद अपने पूँजीवादी आक़ाओं को दोनों हाथों से जनता की मेहनत और देश के संसाधनों की लूट की खुली छूट दे देता है।

मोदी की सरकार और संघ परिवार असल में यही कर रहे हैं। लेकिन हमें फासीवादियों की इन कुत्सित साज़िशों का शिकार न होकर इनका भण्डाफोड़ करना चाहिए। शहीदे आज़म भगतसिंह ने कहा था कि "लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब, मेहनतकशों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं। इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताक़त अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करो। इन यत्नों से तुम्हारा नुक़सान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी ज़ंजीरें कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।"

यही बात याद रखने की ज़रूरत है। हर जाति व धर्म से सम्बन्धित देश की मेहनतकश जनता को इनके बहकावे में न आकर इनके घटिया इरादों को नाकाम करना चाहिए और इन्हें मुँहतोड़ जवाब देते हुए अपनी एकता क़ायम रखनी चाहिए।

प्रधानमन्त्री आवास योजना की हक़ीक़त - दिल्ली के शाहबाद डेरी में 300 झुग्गियों को किया गया ज़मींदोज़!

देशभर में ग़रीब बस्तियों पर क़हर

– सिमरन

2019 के चुनाव से पहले जहाँ एक तरफ़ "मन्दिर वहीं बनायेंगे" जैसे साम्प्रदायिक फ़ासीवादी नारों की गूँज सुनायी दे रही है, वहीं 2014 में आयी मोदी सरकार के विकास और "अच्छे दिनों" की सच्चाई हम सबके सामने है। विकास का गुब्बारा फुस्स हो जाने के बाद अब मोदी सरकार धर्म के नाम पर अपनी चुनावी गोटियाँ लाल करने का पुराना संघी फ़ॉर्मूला लेकर मैदान में कूद पड़ी है। न तो मोदी सरकार बेरोज़गारों को रोज़गार दे पायी है, न आम आबादी को महँगाई से निज़ात दिला पायी है और न ही झुग्गीवालों को पक्के मकान दे पायी है। इसीलिए अब इन सभी अहम मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए मन्दिर का सहारा लिया जा रहा है। मोदी सरकार ने 2014 में चुनाव से पहले अपने घोषणापत्र में लिखे झुग्गी की जगह पक्के मकान देने का वायदा तो पूरा नहीं किया, उल्टा 2014 के बाद से दिल्ली के साथ-साथ देश भर में मेहनतकश आबादी के घरों को बेदर्दी से उजाड़ा गया है। हाल ही में 5 नवम्बर 2018 को दिल्ली के शाहबाद डेरी इलाक़े के सैकड़ों झुग्गीवालों के घरों को डीडीए ने ज़मींदोज़ कर दिया। 300 से भी ज़्यादा झुग्गियों को चन्द घण्टों में बिना किसी नोटिस या पूर्वसूचना के अचानक मिट्टी में मिला दिया गया। सालों से शाहबाद डेरी के मुलानी कैम्प की झुग्गियों में रहने वाले लोगों को सड़क पर पटक दिया गया। न तो केन्द्र सरकार ने झुग्गीवालों के रहने के लिए कोई इन्तज़ाम किया और न ही राज्य सरकार ने उनकी टोह ली। आज भी सरकार द्वारा मुलानी कैम्प के बाशिन्दों को किसी भी प्रकार की कोई राहत मुहैया नहीं करायी गयी है। दिल्ली जैसे महानगर में पिछले कई सालों में सर्दी शुरू होने के साथ झुग्गियाँ टूटने की ऐसी ख़बरें जैसे आम बात बन चुकी है। आवास एवं भूमि अधिकार नेटवर्क (हाउसिंग एण्ड लैण्ड राइट्स नेटवर्क) की फ़रवरी 2018 की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में अकेले 2017 में ही राज्य एवं केन्द्र सरकारों द्वारा 53,700 झुग्गियों को ज़मींदोज़ किया गया जिसके चलते 2.6 लाख से ज़्यादा लोग बेघर हो गये। इस रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में हर घण्टे 6 घरों को तबाह किया गया। ख़ुद आवास एवं भूमि अधिकार नेटवर्क की रिपोर्ट यह कहती है कि ये आँकड़े सिर्फ़ उन घटनाओं से हासिल हो पाये हैं जो शोध में उनके सामने आयी। यानी ये आँकड़े बस प्रातिनिधिक हैं, झुग्गियाँ तोड़े जाने की न जाने कितनी घटनाएँ दर्ज ही नहीं हुई होंगी। इस समस्या की गम्भीरता से सरकार और प्रशासन किस क़दर उदासीन है इसका पता इस बात से लग जाता है कि न तो झुग्गियों को ज़मींदोज़ करने से पहले और न ही बाद में झुग्गीवालों के पुनर्स्थापन के लिए सरकार कोई क़दम उठाती है। 2016 के मुकाबले 2017 में झुग्गियों को तोड़े जाने की कार्यवाही और तेज़ हुई है। और यह सब तब अंजाम दिया जा रहा है, जब मोदी सरकार 2022 तक प्रधानमन्त्री आवास योजना के तहत सबको घर देने की डींग हाक रही है। लोगों को पक्के मकान देना तो दूर की बात है, सरकार उनकी मेहनत की पाई-पाई से जोड़कर खड़ी की गयी झुग्गियों को तोड़ने की कवायद और तेज़ कर रही है। कई दशकों से एक ही झुग्गी-बस्ती में रहने वाले हज़ारों मेहनतकशों के घरौंदे रौंद दिये जाते हैं और सरकार इसे कभी अतिक्रमण हटाने तो कभी सौन्दर्यीकरण के नाम पर जायज़ ठहरा देती है। शाहबाद डेरी के मुलानी कैम्प की बात हो या पिछले कुछ सालों में शकूर बस्ती, शास्त्री पार्क, वज़ीरपुर, कठपुतली कॉलोनी जैसी अन्य झुग्गी-बस्तियों की बात हो। दिल्ली की कड़ाके की ठण्ड में मेहनतकश-ग़रीब आबादी के सिर से छत छीन उसे सड़कों पर जीने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। और सबसे हैरत की बात यह है कि मेहनतकश-ग़रीब आबादी के घरों को शहरों के सौन्दर्यीकरण और झुग्गी-मुक्त शहर बनाने के नाम पर उजाड़ा गया है। 2017 में उजाड़ी गयी झुग्गियों में से 46 प्रतिशत को शहरों के सौन्दर्यीकरण के नाम पर ज़मींदोज़ किया गया। शहरों की रफ़्तार जिन कन्धों पर टिकी होती है, उसी मेहनतकश आबादी के घरों को शहर की सुन्दरता पर धब्बा समझा जाता है। जिस मेहनतकश आबादी के बलबूते दिल्ली जैसे महानगर की चमचमाती इमारतों से लेकर इसकी फ़ैक्टरियों में काम चलता है, बसों से लेकर मेट्रो, सड़क की सफ़ाई, घरों की सफ़ाई से लेकर गटर की सफ़ाई तक, सब्ज़ी से लेकर ज़िन्दगी की हर ज़रूरत का सामान घरों तक पहुँचता है उसी आबादी के घरों को यह व्यवस्था गन्दगी समझती है। सुई से लेकर जहाज़ तक बनाने वाले मज़दूरों के बच्चों के सर से ही सबसे पहले छत छीन ली जाती है। इससे ज़्यादा विरोधाभास की बू किस तथ्य से आ सकती है। कामनवेल्थ खेलों के समय उजाड़ी गयी झुग्गियों की बात हो या मेहनतकश आबादी के रहने वाले इलाक़ों के आगे नीले रंग का टीन लगाकर छुपाने की कायरता हो।

इस देश की सरकारें चाहे वो किसी पार्टी की ही क्यों न हो, ने हरहमेशा मेहनतकश आबादी की पीठ में छुरा भौंका है। इस देश का संविधान सबको बराबरी का हक़ देता है, यह बात कागज़ों पर ज़रूर पढ़ने को मिल जाती है। लेकिन हक़ीक़त से सामना होने पर यह हवा-हवाई बात ही साबित होती है। और इसका सबसे बड़ा सबूत ग़रीबों की बस्तियों पर चलाये जाने वाले बुलडोज़र है। मुम्बई की कम्पा कोला सोसाइटी के बारे में शायद आपने अख़बारों में पढ़ा होगा, यह मुम्बई में ग़ैर-क़ानूनी रूप से बनायी गयी एक इमारत है जिसे मुम्बई म्यूनिसिपैलिटी 2002 से तोड़ नहीं पायी है क्योंकि इस इमारत में रहने वाले लोगों ने कोर्ट जाकर अपने और अपने बच्चों के भविष्य की गुहार लगाते हुए राहत देने की अर्ज़ी की है। यह मामला अभी भी कोर्ट में चल रहा है। और इस इमारत में रहने वाले लोग आज भी अपने घर की छत के नीचे चैन की ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। लेकिन झुग्गियों के ग़ैर-क़ानूनी होने की दुहाई देते हुए न सिर्फ़ मुम्बई में बल्कि दिल्ली, चेन्नई, कलकत्ता और भारत के विभिन्न शहरों में आये दिन मेहनतकश आबादी को घर से बेघर किया जा रहा है। और ऐसा करते हुए हाई कोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट के सारे निर्देशों का खुला मख़ौल उड़ाया जा रहा है। संविधान का अनुच्छेद 21 आवास के अधिकार को जीवन के अधिकार (राइट टू लाइफ़) का अभिन्न अंग मानता है। इसके बावजूद मेहनतकश आबादी के घरों को बेरोकटोक तोड़ा जा रहा है। मार्च 2017 से लेकर सितम्बर 2017 के बीच डीडीए ने दिल्ली के किशनगढ़, बलजीत नगर और शास्त्री पार्क में बिना किसी पूर्वसूचना के झुग्गियों को अतिक्रमण हटाने के नाम पर तोड़ दिया। ग़ौर करने की बात है कि दिल्ली हाई कोर्ट के द्वारा जारी एक ऑर्डर के तहत किसी वैकल्पिक रहने के इन्तज़ाम के बिना किसी भी झुग्गी को न तोड़े जाने के निर्देश हैं। लेकिन इन सभी निर्देशों का खुला उल्लंघन करते हुए कड़कड़ाती सर्दी में लोगों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाता है। इतना ही नहीं झुग्गियों को तोड़ने से पहले न ही झुग्गीवालों को पर्याप्त समय दिया जाता है कि वो अपना सामान और अपनी जमा-पूँजी अपने घरों से निकाल पायें। अक्टूबर 2017 में डीडीए ने कठपुतली कॉलोनी में 2000 घरों को तोड़ने के लिए बड़ी निर्ममता के साथ भारी पुलिस बल और आँसू गैस का इस्तेमाल किया। कई दशकों से वहाँ रह रहे लोगों की ज़िन्दगी भर की जमा पूँजी को बुलडोज़रों द्वारा रौंद दी गयी और अपने घरों को बख़्श देने की गुहार लगाने वाले झुग्गीवासियों पर आँसू-गैस के गोले और पुलिस की लाठियाँ भाँजी गयीं। पिछले साल के अन्त में फ्लाईओवरों के सौन्दर्यीकरण के नाम पर उनके नीचे सोने वाले लोगों को भी वहाँ से हटा दिया गया।

सिर्फ़ दिल्ली में ही नहीं देश के बाक़ी शहरों में भी हालात ऐसे ही हैं। कलकत्ता में अक्टूबर 2017 में अण्डर-17 फ़ीफ़ा वर्ल्ड कप टूर्नामेण्ट की तैयारी के लिए शहर के सौन्दर्यीकरण के नाम पर पश्चिम बंगाल की सरकार ने 88 कम आय वाले घरों को तोड़ दिया। इसके साथ-साथ 5000 फेरीवालों और 18,000 रिक्शा खींचने वालों को हटा दिया। इतना ही नहीं कलकत्ता पुस्तक मेले के लिए मण्डप और मंच बनाने के लिए 1200 परिवारों के घरों को उजाड़ दिया गया। सड़कें चौड़ी करने के लिए भी झुग्गियों को बेदर्दी से उजाड़ा गया। सबसे ज़्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि लोगों को घर देने के नाम पर ही वड़ोदरा और इन्दौर में बने बनाये घरों को उजाड़ दिया गया। 2017 में प्रधानमन्त्री आवास योजना के तहत लोगों को मकान देने के लिए ज़मीन सुरक्षित करने के नाम पर वड़ोदरा में 3,600 और इन्दौर में 550 मकानों को तोड़ दिया गया। ये सब मकान ग़रीब आबादी से आने वाले लोगों के थे। स्वच्छ भारत मिशन के तहत जनवरी और फ़रवरी 2017 में इन्दौर में 112 ऐसे घरों को तोड़ दिया गया जहाँ शौचालय नहीं थे! चेन्नई में सितम्बर-दिसम्बर 2017 में तमिलनाडु सरकार ने 4,784 परिवारों को जल निकायों की बहाली के नाम पर बेघर कर दिया। ग़ौर करने की बात है कि तोड़े गये घरों में से सभी शहरी ग़रीब आबादी के घर थे। लेकिन जल स्रोतों के किनारे सटे वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों को हाथ भी नहीं लगाया गया।

इन सब घटनाओं से जो सवाल पैदा होता है, वो यह है कि शहर आख़िर बनता किससे है? क्या शहरों की झुग्गी-बस्तियों में रहने वाली बहुसंख्य आबादी का इस शहर पर कोई हक़ नहीं? क्या उन हाथों को जो इस शहर को अपनी मेहनत से चलाते हैं, रहने के लिए कच्चा ही सही लेकिन घर देना भी इस व्यवस्था के लिए सम्भव नहीं? क्या झुग्गी-मुक्त शहर बनाने के लिए झुग्गीवालों के सिर से छत छीन लेना एक बेहूदा मज़ाक़ नहीं है? हर चुनाव से पहले झुग्गीवालों की उन्हीं बस्तियों में जाकर वोट माँगने वाले नेता-मन्त्रियों को चुनाव जीत जाने के बाद वही झुग्गियाँ शहर की गन्दगी प्रतीत होती हैं। अतिक्रमण के नाम पर 40 से 50 साल से एक झुग्गी-बस्ती में रह रहे लोगों, जिनके पास वहाँ के वोटर कार्ड से लेकर बिजली का बिल सब है, को रातो-रात वहाँ से खदेड़ दिया जाता है। इससे बड़ी नाइंसाफ़ी क्या हो सकती है। अगर वाक़ई सरकार को झुग्गीवालों की फ़िक्र होती तो उन्हें सडकों पर पटकने की बजाय वो उनके लिए रहने का बन्दोबस्त करती, झुग्गी की जगह उन्हें पक्के मकान देती। लेकिन पब्लिक लैण्ड यानी सार्वजानिक ज़मीन को अतिक्रमण मुक्त कराने और फिर बड़े-बड़े बिल्डरों को बहुमंज़िला इमारत या मॉल बनाने के लिए बेचने में कोई हिचक न रखने वाली सरकार को मेहनतकश आबादी की क्या फ़िक्र। वास्तव में जिस पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर आज हम जी रहे हैं, उसमें मेहनतकशों का शोषण सिर्फ़ उनके काम करने की जगह पर ही नहीं होता बल्कि कारख़ानों, फ़ैक्टरियों से निकल कर जिन दड़बेनुमा झुग्गियों में उन्हें जीने के लिए विवश किया जाता है वहाँ भी लगातार उनकी मानवीय गरिमा पर चोट की जाती है। इस व्यवस्था में मज़दूरों और मेहनतकशों की मेहनत की लूट काग़ज़ों पर ग़ैर-क़ानूनी होने के बावजूद भी उचित मानी जाती है। ठीक उसी तरह जिस तरह उनके घरों को ग़ैर-क़ानूनी या अतिक्रमण बता कर कभी भी ज़मींदोज़ किये जाने की कार्यवाही को उचित ठहराया जाता है। अपने आप को मज़दूर नम्बर 1 कहने वाले प्रधानमन्त्री मोदी और ख़ुद को आम आदमी कहने वाले मुख्यमन्त्री को दिल्ली की मेहनतकश आबादी को यह जवाब देना ही होगा कि जब उनके घरौंदों को उजाड़ा जा रहा था तब वे चुप क्यों थे। मोदी सरकार की प्रधानमन्त्री आवास योजना की हक़ीक़त यही है। यही इस देश की मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी का कड़वा सच है कि अपनी मेहनत से शहरों को चलाने और उसकी चकाचौंध को बरकरार रखने वाले हाथों के घर ही इस व्यवस्था की सेवा में लगी सरकार को शहरों की गन्दगी मालूम पड़ते हैं।

अमीरों के पैदा किये प्रदूषण से मरती ग़रीब आबादी

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार साल 2016 में प्रदूषण और ज़हरीली हवा की वजह से भारत में एक लाख बच्चों की मौत हुई, और दुनिया में छह लाख बच्चे मौत के मुँह में चले गये। कहने की ज़रूरत नहीं कि इनमें से ज़्यादातर ग़रीबों के बच्चे थे।

मुम्बई, बैंगलोर, चेन्नई, कानपुर, त्रावणकोर, तूतीकोरिन, सहित तमाम ऐसे शहर हैं, जहाँ खतरनाक गैसों, अम्लों व धुएँ का उत्सर्जन करते प्लांट्स, फैक्ट्रीयाँ, बायोमेडिकल वेस्ट प्लांट, रिफाइनरी आदि को तमाम पर्यावरण नियमों को ताक पर रखते हुए ठीक गरीब मेहनतकश मज़दूर बस्तियों में लगाया जाता है। आज तमाम ज़हरीले गैसों, अम्लों, धुएँ आदि के उत्सर्जन को रोकने अथवा उन्हें हानिरहित पदार्थों में बदलने, एसिड को बेअसर करने, कणिका तत्वों को माइक्रो फ़िल्टर से छानने जैसी तमाम तकनीकें विज्ञान के पास मौजूद हैं, लेकिन मुनाफे की अन्धी हवस में कम्पनियाँ न सिर्फ पर्यावरण नियमों का नंगा उल्लंघन करती हैं, बल्कि सरकारों, अधिकारियों को अपनी जेब में रखकर मनमाने ढंग से पर्यावरण नियमों को कमज़ोर करवाती हैं।

हाल ही में महाराष्ट्र, गुजरात, उ.प्र. में अडानी के पॉवर व अन्य प्रोजेक्ट्स के लिए वन कानूनों को तोड़-मरोड़ कर विशाल स्तर पर जंगल सौंपे गये, उत्तरांचल में पतंजलि के लिए पर्यावरण नियमों की धज्जियाँ उड़ायी गयीं, नियामगिरि, तूतीकोरिन, बस्तर, दंतेवाड़ा में वेदांता के लिए वहाँ की जनता को मयस्सर आबोहवा में ज़हर घोला गया, वह सब जगजाहिर है।

ऐसे में एक साल में एक लाख बच्चों का वायु प्रदूषण की वजह से दम तोड़ देना कोई आश्चर्य की बात नहीं, आक्रोश की बात जरूर है। जबतक उत्पादन का उद्देश्य जनता की ज़रूरत न होकर मुनाफा होगा, जबतक जनता के हाथ में उत्पादन के हर साधन का नियंत्रण नहीं आएगा, तबतक इसी तरह लाखों बच्चे मरते रहेंगे। आप सरकारें बदल लीजिए, कभी फेंकू को तो कभी पप्पू को लाते रहिए, कोई फर्क नहीं पड़ने वाला

– श्रवण यादव

पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव में भाजपा की शिकस्त

यह निश्चिन्त होने का नहीं बल्कि फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को और व्यापक व धारदार बनाने का समय है!

(पेज 1 से आगे)

पीने, दवा-इलाज और शिक्षा जैसी बुनियादी चीज़ों में बेतहाशा महँगाई, मनरेगा और विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं में भारी कटौती से आम लोग बुरी तरह तंग हैं। बेरोज़गारी ऐसा विकराल रूप धारण कर चुकी है जैसा पहले कभी नहीं था। नोटबन्दी और जीएसटी की सबसे बुरी मार ग़रीबों पर पड़ी है। अभी-अभी आयी एक रिपोर्ट के अनुसार नोटबन्दी और जीएसटी के कारण देश भर में 55 लाख छोटे-मोटे रोज़गार करने वालों का काम छिन गया। उद्योगों में काम करने वाले मज़दूर अपने अनुभव से जान रहे हैं कि मोदी सरकार आने के बाद से मज़दूरों के काम करने और जीने की परिस्थितियाँ किस कदर कठिन हो गयी हैं। यह भी एक मानी हुई सच्चाई है कि समाज का ऊपरी सम्पन्न तबका लोकतंत्र के इस तमाशे में कम दिलचस्पी रखता है और अधिकांशतः वह वोट डालने जाता ही नहीं। आम ग़रीब मेहनतकश व मध्यवर्गीय लोग ही वोट डालने के प्रति ज़्यादा उत्साह दिखाते हैं। इसका यही संकेत है कि पाँचों राज्यों में आम मेहनतकश मतदाताओं की बहुसंख्या ने मोदी सरकार और संघ परिवार की नीतियों को खारिज कर दिया है।

यह दलील दी जा सकती है और यह बेबुनियाद भी नहीं है कि आम मतदाता किसी पार्टी की नीतियों की अच्छाई-बुराई जाँचकर वोट नहीं देता। जातिगत और धार्मिक आधार पर होने वाले ध्रुवीकरण के अलावा पैसे और ताक़त का ज़ोर भी वोट डलवाने में अहम भूमिका निभाता है। लेकिन इसके बावजूद यह ध्रुवीकरण भाजपा गठबन्धन के पक्ष में क्यों नहीं हो सका, जबकि भाजपा के चुनाव प्रबन्धकों ने हर हथकण्डा आजमाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी? पैसे की ताक़त के साथ ही समाज के दबंग और प्रभुत्वशाली तबकों का और स्थानीय प्रशासन का भी अधिक समर्थन उसीके साथ था। ईवीएम के घपलों के बारे में कुछ कहने की ज़रूरत नहीं।

अगर मतदाताओं की बहुसंख्या ने भाजपा को नकार दिया है तो क्या उसने कांग्रेस को वास्तविक समर्थन दिया है और इससे उसे अपने जीवन में बदलाव आ जाने की उम्मीद है? नहीं, यह सोचना भी ग़लत होगा। दरअसल, यह विकल्पहीनता का चुनाव था। मतदाता इस बारे में किसी भ्रम के शिकार नहीं हैं। आधी सदी से ज़्यादा समय के तजुर्बों ने उनके सामने यह बिल्कुल साफ कर दिया है कि कोई भी पूँजीवादी चुनावी पार्टी उनकी आकांक्षाओं पर खरी नहीं उतरती। कांग्रेस के शासन को भी लोग अच्छी तरह से जानते हैं। लेकिन फिर भी चुनाव के समय मतदाताओं की सोच यह होती है कि जब कोई ऐसा विकल्प सामने नहीं है जो उनकी आकांक्षाओं को सही मायने में पूरा करे तो क्यों न दो बुराइयों में से कम बुराई वाले को चुन लिया जाये। कांग्रेस का चुनाव इसी तरह कम बुराई का चुनाव कहा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि लोगों को कांग्रेस के सुधर जाने का भरोसा हो गया है और वे उसकी नीतियों के समर्थक हो गये हैं।

इन चुनावों में हार से ये हिन्दुत्ववादी फासिस्ट अपनी हरकतों से बाज़ आ जायेंगे, ऐसा सोचना एक आत्मघाती ख़ुशफ़हमी होगी। चुनाव परिणाम आने के बाद भी जिस तरह से उत्तर प्रदेश सरकार बुलन्दशहर की हिंसा के आरोपियों का बचाव कर रही है और संघ परिवार के संगठन वहाँ तनाव भड़काने में लगे हुए हैं उससे साफ़ है कि इनके पास और कोई रास्ता है ही नहीं। आने वाले दिनों में ये गाय, मन्दिर, आतंकवाद, पाकिस्तान जैसे मसलों पर और भी ज़्यादा शोर-शराबा मचायेंगे। युद्धोन्माद पैदा करने की कोशिश करेंगे। हरचन्द कोशिशों के बावजूद मन्दिर मुद्दा गरमाने की इनकी कोशिशें फुस्स हो चुकी हैं लेकिन मन्दिर बनाने का अध्यादेश लाने के बहाने चुनाव के ऐन पहले ये कुछ हंगामा फिर खड़ा कर सकते हैं। दूसरे, लोगों को लुभाने-भरमाने के लिए कुछ सरकारी सौगातें देने की कोशिश कर सकते हैं। तमाम अर्थशास्त्रियों की चेतावनी के बावजूद सरकार जिस तरह से रिज़र्व बैंक के सुरक्षित कोष से साढ़े तीन लाख करोड़ को भी हड़पने पर आमादा दिखायी दे रही है, उसके पीछे यही मकसद लगता है। भले ही, इस चक्कर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का भट्टा बैठ जाये। सरकार पहले से भारी वित्तीय संकट से जूझ रही है। हालत यह हो चुकी है कि इस साल लगभग एक लाख करोड़ के आयकर रिफ़ंड रोक लिये गये हैं क्योंकि सरकार के पास देने के लिए पैसे ही नहीं हैं। जीएसटी से टैक्स संग्रह बढ़ने के सारे दावे फ़ेल हो चुके हैं। इस वित्तीय वर्ष के पहले सात महीनों में ही वित्तीय घाटा पूरे वित्तीय वर्ष के बजट का 104% हो चुका है। मज़दूरों को बुरी तरह निचोड़ने के बावजूद उद्योगों की हालत ख़राब है। अम्बानी-अडानी जैसे चन्द एक घरानों को छोड़कर, जिन्हें सारे नियमों को ताक पर धरकर सरकारी मदद से फ़ायदे पहुँचाये जा रहे हैं, ज़्यादातर पूँजीवादी घराने घाटे या घटते मुनाफ़े से परेशान हैं।

2019 के चुनाव के बाद, सत्ता में चाहे भाजपा आये या कांग्रेस गठबंधन, अर्थव्यवस्था की हालत और भी बदतर होने वाली है। दोनों की ही आर्थिक नीतियाँ समान हैं। रोज़गार, किसानों की बदहाली का समाधान दोनों के पास नहीं, निजीकरण दोनों को करना ही है। मज़दूर-विरोधी "श्रम सुधारों" को दोनों को ही आगे बढ़ाना है। इसका सारा बोझ आम मेहनतकश जनता पर ही डाला जायेगा। ऐसे में जनता में हताशा और असन्तोष फिर बढ़ेगा। फासिस्ट गुण्डा दलों और सरकारी तंत्र में बैठे अपराधियों के खिलाफ कांग्रेस सरकारों से कार्रवाई की उम्मीद करना भोलापन ही है। भाजपा और कांग्रेस ज़ुबानी लड़ाई के अलावा एक दूसरे के अपराधों पर कुछ भी नहीं करने वाले। भूलना नहीं चाहिए कि गुजरात के दंगों के बाद मोदी को "क्लीन चिट" कांग्रेस के राज में ही मिली थी। 'आजतक' पर प्रसारित स्टिंग ऑपरेशन में गुजरात के अनेक नेताओं, अफ़सरों आदि के वीडियो पर अपने अपराधों की खुली स्वीकारोक्ति के बावजूद किसी के ख़िलाफ़ एफ़आईआर तक दर्ज नहीं हुई थी।

ऐसा कहने का मतलब यह नहीं कि आम चुनावों में भाजपा की हार से कोई फ़र्क ही नहीं पड़ेगा। बेशक, कांग्रेस उन्हीं आर्थिक नीतियों को आगे बढ़ायेगी। दरअसल नोटबन्दी के मामले को छोड़ दिया जाये, तो मोदी सरकार की सभी आर्थिक नीतियाँ कांग्रेस की ही आर्थिक नीतियाँ हैं, बस उन्हें ज़्यादा बेरोकटोक ढंग से और डण्डे मारकर लागू किया जाता रहा है, और नियम-क़ानूनों की बलि चढ़ाकर चन्द पूँजीवादी घरानों को मनमानी लूट की छूट दी जाती रही है। लेकिन फासिस्ट गिरोह के सत्ता से बाहर होने के बाद इनके गुण्डा दलों को सत्ता का खुला संरक्षण कम होगा और आमूलगामी बदलाव के लिए काम करने वाली शक्तियों को भी काम करने के लिए कुछ समय मिल जायेगा। इस मोहलत का लाभ उठाकर वामपंथी ताक़तें स्थिति के सही विश्लेषण पर आधारित संघर्ष का जुझारू कार्यक्रम लेकर जनता के बीच जाती हैं, उसके जीवन से जुड़े सवालों पर संघर्षों को आगे बढ़ाती हैं, सांप्रदायिकता-जातिवाद के खिलाफ दृढ़ता से खड़ी होती हैं, और फासीवाद-विरोधी रैडिकल सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने की कोशिशों में लगती हैं, तो नयी सरकार के कारनामों से पैदा होने वाले जन असन्तोष का लाभ फिर से फासीवादियों को उठाने से रोक सकती हैं और उसे पूँजीवाद-विरोधी दिशा दे सकती हैं। लेकिन अगर सत्ता से बाहर होते ही फासीवाद का ख़तरा टल जाने की ख़ुशफ़हमी में पड़े रहे, कांग्रेस गठबन्धन की जीत को ही फासीवाद की हार मानकर निश्चिन्त होकर बैठे रहे, तो जनता का बड़ा हिस्सा निश्चय ही फिर से फासीवादी ताक़तों की ओर जायेगा, फासीवादी ताक़तें और भी मज़बूत होकर उभरेंगी।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि न्यायपालिका, आई.बी.,सी.बी.आई., ई.डी., समूची नौकरशाही और मुख्य धारा की मीडिया के बड़े हिस्से का फासिस्टीकरण किया जा चुका है। शिक्षा-संस्कृति के संस्थानों में संघी विचारों वाले लोग भर गये हैं, पाठ्यक्रमों में कदलाव करके बच्चों तक के दिमाग़ों में ज़हर भरा जा रहा है। सेना में भी शीर्ष पर फासिस्ट प्रतिबद्धता वाले लोगों को बैठाया जा रहा है। संघी फासिस्ट अगर चुनाव हार भी जायेंगे तो सड़कों पर अपना ख़ूनी खेल जारी रखेंगे और फिर से सरकार बनाने के लिए क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग की चरम पतित और अवसरवादी पार्टियों के साथ गाँठ जोड़ने की कोशिश करते रहेंगे। वे अच्छी तरह समझते हैं कि कांग्रेस या बुर्जुआ पार्टियों का कोई भी गठबंधन अगर सत्तारूढ़ होगा तो उसके सामने भी एकमात्र विकल्प होगा नव-उदारवादी विनाशकारी नीतियों को लागू करना। इन नीतियों को एक निरंकुश बुर्जुआ सत्ता ही लागू कर सकती है, इसलिए दमन और भ्रष्टाचार का रास्ता तो भाजपा-विरोधी बुर्जुआ पार्टियों की सत्ता को भी चुनना ही पड़ेगा। ऐसे में भाजपा फिर धार्मिक कट्टरपंथ, अन्धराष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद के नारे देते हुए मध्य वर्ग के एक धुर-प्रतिक्रियावादी रूमानी उभार को हवा देगी और उस लहर पर सवार होकर तथा क्षेत्रीय बुर्जुआ दलों को साथ लेकर सत्ता तक पहुँचाने के कुलाबे भिड़ायेगी। कांग्रेस जो नरम हिन्दुत्व की लाइन ले रही है, उसका भी लाभ अगली पारी में भाजपा को ही मिलेगा।

कहने का मतलब यह है कि फासीवाद-विरोधी मोर्चे का सवाल किसी चुनावी मोर्चे का सवाल नहीं है। फासीवाद-विरोधी निर्णायक संघर्ष तो सड़कों पर होगा। फासिस्ट सत्ता में रहें या न रहें, इनका उत्पात तबतक जारी रहेगा जबतक पूँजीवादी व्यवस्था बनी रहेगी। सड़कों पर फासीवाद-विरोधी लड़ाई के मोर्चे में कोई भी बुर्जुआ पार्टी साथ नहीं आने वाली है। बंगाल और त्रिपुरा के बाद भी, सारी उम्मीद चुनावी हार-जीत पर टिकाये पतित संसदीय वामपन्थियों ने अपने आचरण से साबित कर दिया है कि इतिहास से कोई सबक न लेते हुए वे 1920 और 1930 के दशक का ही इतिहास दुहराने वाले हैं, जब जर्मनी और इटली में इनकी समझौतापरस्ती का लाभ उठाकर हिटलर और मुसोलिनी सत्ता तक पहुँचे थे। आज फासीवाद-विरोधी किसी जुझारू संयुक्त मोर्चे में मज़दूर वर्ग के सभी क्रान्तिकारी संगठनों और मंचों के अतिरिक्त कुछ निम्न-बुर्जुआ रेडिकल संगठन ही शामिल हो सकते हैं। सड़कों के संघर्ष में "पॉपुलर फ्रंट" जैसी कोई रणनीति काम नहीं आयेगी। बेशक जबतक बुर्जुआ जनवाद है, तबतक बुर्जुआ चुनावों का भरपूर 'टैक्टिकल' इस्तेमाल किया जाना चाहिए, लेकिन चुनावी हार-जीत से फासीवाद को ठिकाने लगा देने की खामख़याली आत्मघाती मूर्खता होगी।

असल बात यह है कि हमें तृणमूल स्तर पर कामों को संगठित करना होगा, एक जुझारू प्रगतिशील श्रमिकवर्गीय सामाजिक आन्दोलन खडा करना होगा और मज़दूरों और रेडिकल प्रगतिशील युवाओं के फासिस्ट-विरोधी दस्ते बनाने होंगे। किसी को लग सकता है कि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और क्रान्तिकारी संगठनों की स्थिति को देखते हुए यह एक दूर की कौड़ी है। पर हमें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि यदि परिस्थितियों का आकलन और उस पर आधारित कार्यदिशा सही हो तो तो व्यवस्था का संकट बढ़ने के साथ ही उस लाइन पर अमल के नतीजे चमत्कारी गति से सामने आते हैं, क्रान्तिकारी कामों का तेज़ी से विस्तार होता है और व्यवस्था के संकट को एक क्रान्तिकारी संकट में तब्दील किया जा सकता है। इसी बात को संसदीय जड़वामन और दुनियादार "प्रगतिशील" शुतुरमुर्ग नहीं समझ पाते और अपने घोंसलों के दरवाज़े पर बैठे हुए क्रान्तिकारी मंसूबों को 'हवाई पुलाव' बताते रहते हैं!

हिन्दुत्ववादी फासिस्ट ताक़तों को भारतीय पूँजीवाद और विश्व पूँजीवाद के जिन संकटों ने खाद-पानी दिया था वे संकट न केवल मौजूद हैं वरन् आने वाले दिनों में और गहरायेंगे। कई अर्थशास्त्री और बुर्जुआ आर्थिक संस्थाएँ चेतावनी दे रही हैं कि एक दशक पहले की मन्दी से भी भीषण मन्दी में विश्व अर्थव्यवस्था फँसने वाली है। ऐसे में फासिस्ट ताकतों को देश का शासक पूँजीपति वर्ग ज़ंजीर में बँधे शिकारी कुत्ते की तरह न केवल पालता-पोसता रहेगा वरन् जब भी ज़रूरत होगी ज़ंजीर खोल देने में हिचकिचायेगा नहीं। इसलिए फासीवाद से मुकाबले की तैयारियाँ जारी रखनी होंगी और उनमें तेज़ी लानी होगी।

किसी चुनावी जीत-हार से फासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई में कोई निर्णायक अन्तर आयेगा इस भ्रम को दूर करने के लिए इस तथ्य को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि जिस दौर में भारत में नवउदारवादी नीतियों का वर्चस्व क़ायम हुआ, वही हिन्दुत्ववादी फासीवाद के प्रभाव-विस्तार का भी दौर रहा है। बाबरी मस्जिद में राम जन्मभूमि का ताला खुलवाना, आडवाणी की रथयात्रा, गुजरात 2002, पूरे देश में साम्प्रदायिक दंगों, तनाव और अल्पसंख्यक आबादी के लगातार बढ़ते अलगाव का सिलसिला और फिर मोदी का सत्ता में आना — इस पूरे राजनीतिक घटनाक्रम को नवउदारवादी नीतियों के निर्णायक वर्चस्व की स्थापना

(पेज 11 पर जारी)

मौजूदा किसान आन्दोलन और इनकी माँगें किन वर्गों के हित में हैं?

(पेज 1 से आगे)

हाल में कैसे फाँसकर रखा जाये इस बात को ये 'समझदार लोग' भली प्रकार से समझा सकते हैं। लेकिन तार्किक बात से सहमत करने की बजाय भावना का क्लोरोफ़ॉर्म सुँघाकर भला लोगों को कब तक रखा जा सकता है?

इस 'मुक्ति यात्रा' से कुछ ही दिन पहले पेट्रोल-डीज़ल की महँगाई, समय पर फ़सल के दाम देने, स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशें लागू कराने, क़र्ज़ माफ़ी, सस्ता बिजली-पानी जैसी माँगों के 21 सूत्रीय माँग-पत्रक के साथ भारतीय किसान यूनियन के नेतृत्व में हरिद्वार से दिल्ली के लिए हज़ारों के काफ़िले के साथ दिल्ली आये थे। किसान 23 सितम्बर को हरिद्वार के बाबा टिकैत घाट से चले थे। 2 अक्टूबर के दिन दिल्ली में प्रवेश करते समय सरकार ने इन किसानों पर दमन चक्र चला दिया था। उन पर आँसू गैस के गोले दागे गये, लठियाँ भाँजी गयीं और रबड़ की गोलियाँ तक छोड़ी गयी थीं। अन्त में किसानों को देर रात किसान घाट तक जाने भी दिया गया था। इस रैली का नेतृत्व किसान नेता महेन्द्र सिंह टिकैत के बेटे नरेश टिकैत और राकेश टिकैत सम्हाल रहे थे। राष्ट्रीय लोकदल भी अपना 'पुश्तैनी' क्षेत्र होने के चलते कहाँ पीछे हटने वाले थे। अतः वे भी यात्रा में शामिल हुए।

देश के ग़रीब किसानों के हालात वाक़ई बद से बदतर हो रहे हैं। 30 दिसम्बर 2016 को जारी की गयी राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो ('एनसीआरबी') के आँकड़ों के अनुसार साल 2015 में कुल 12,602 किसानों और खेत मज़दूरों ने आत्महत्याएँ की थीं। अपनी जान देने वालों में 7,114 ख़ुदकाश्त किसान, 893 पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले किसान और 4,595 खेत मज़दूर शामिल थे। 2014 की 'एनसीआरबी' की रिपोर्ट के अनुसार 2014 में कुल 12,360 किसानों और खेत मज़दूरों ने जान दी थी। इनमें 4,949 ख़ुदकाश्त किसान, 701 पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले किसान और 6,710 खेत मज़दूर थे। 2018 के आँकड़े बताते हैं कि मोदी सरकार के चार साल के शासन काल में 50 हज़ार से ज़्यादा किसानों ने आत्महत्या की है। कहना नहीं होगा कि न केवल किसान बल्कि खेत मज़दूर भी आत्महत्याओं की भेंट चढ़ते हैं। पूँजीवाद में छोटा माल उत्पादक हमेशा संकट में रहता है तथा यही चीज़ किसानी पर भी लागू होती है। जोत का आकार लगातार घटता जा रहा है, खेती के बाज़ारीकरण, कॉर्पोरेटीकरण के कारण बड़ी पूँजी वाले धनी किसान और 'एग्रो बिज़नेस' कम्पनियाँ तो मुनाफ़ा कमा जाती हैं किन्तु छोटा और ग़रीब किसान अपनी लागत भी नहीं निकाल पाता। सरकारें हमेशा ही बड़ी पूँजी के साथ खड़ी होती हैं, यह कोई नयी बात नहीं है। 6 सितम्बर की एक ख़बर के मुताबिक़ साल 2016 में कृषि ऋण के नाम पर देश के 615 खाता धारकों के खातों में 59 हज़ार करोड़ रुपये भेजे गये यानी औसतन हरेक के खाते में 95 करोड़ का कृषि ऋण! आर्थिक मन्दी से कराह रही पूँजीवादी व्यवस्था में सरकारों ने 'कल्याणकारी राज्य' का चोला अब पूरी तरह से उतार फेंका है। और खुले तौर पर देशी-विदेशी पूँजी की चाकरी हो रही है। उदाहरण के लिए प्रधानमन्त्री फ़सल बीमा योजना को ही ले सकते हैं, जिसमें ग़रीब किसानों का ज़बरदस्ती बीमा किया जा रहा है तथा जितने का बीमा होता है नुक़सान के समय उससे बहुत कम बीमा राशि का भुगतान किया जाता है। प्रधानमन्त्री फ़सल बीमा योजना लागू होने के बाद विगत दो वर्षों में ही कम्पनियों को 36,848 करोड़ रुपये ज़्यादा प्रीमियम प्राप्त हुआ है यानी लोगों की जेबों से निकला आय का वो हिस्सा जिसका भुगतान नहीं किया गया और उसे सीधा कम्पनियों की जेब में डाला गया।

पिछले कुछ ही सालों के दौरान गुज्जर, जाट, पटेल, मराठा, कापू इत्यादि जातियों - जिनका बड़ा हिस्सा पुश्तैनी तौर पर खेती-किसानी से जुड़ा रहा है - के नौकरियों और शिक्षा में आरक्षण की माँग को लेकर उठे आन्दोलन भी किसानी के बीच पसरी घोर निराशा, असहायता, मायूसी और सुरक्षाबोध को ही दर्शाते हैं। वर्ग विभाजित समाज में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट छोटे और सीमान्त किसानों से इसीलिए सरोकार रखते हैं क्योंकि वे सर्वहारा वर्ग के सबसे घनिष्ट सहयोगी और वर्ग मित्र हैं। ख़ाली भावुकतावाद से कुछ होता-जाता नहीं है और मानवतावादी दलीलें भी वर्ग निरपेक्ष क़तई नहीं हुआ करती हैं! ऐसे दौर में उजड़ते हुए किसान यानी सीमान्त, छोटे और ग़रीब किसान को बचाने के लिए जो माँगें उठायी जा रही हैं क्या ये वाक़ई उनके हित में हैं?

आज यह बात पूरी तरह से साफ़ है कि भारतीय समाज की प्रमुख उत्पादन पद्धति पूँजीवादी उत्पादन पद्धति है। आज़ादी के बाद समझौते के बाद देश का पूँजीपति वर्ग शासन सत्ता में आया तथा उसने क्रमिक सुधार के रास्ते से पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को बढ़ावा दिया। धीरे-धीरे ही सही किन्तु पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का बोलबाला होता चला गया तथा यही नहीं फिर 1990 के दशक में उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण के दौर में पूँजीवादी विकास में अभूतपूर्व गति आयी। इसके बाद देश के सुदूर अंचलों तक में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध हावी होते चले गये। देश में उत्पादन प्रमुख तौर पर उपभोग की बजाय बाज़ार के लिए यानी एक माल के तौर पर होता है तथा पूरी तरह से केन्द्रीयकृत राज्यसत्ता है। उक्त दोनों ही लक्षण पूँजीवादी व्यवस्था के बुनियादी लक्षण हैं। पहली बात तो सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा लगातार घटता जा रहा है। 2016-17 में सकल घरेलू उत्पाद ('जीडीपी') में (2016-17 के मूल्यों के अनुसार) कृषि का योगदान मात्र 17 प्रतिशत रह गया जबकि उद्योग और सेवा क्षेत्र का क्रमशः 29 प्रतिशत और 54 प्रतिशत तक पहुँच गया। जबकि यदि 1950-51 की बात की जाये तो जीडीपी में कृषि का योगदान (2016-17 के मूल्यों के अनुसार) 52 फ़ीसदी था जबकि उद्योग और सेवा क्षेत्र का क्रमशः 14 फ़ीसदी और 33 फ़ीसदी था। यही नहीं कृषि में पूँजीवादी माल उत्पादन साफ़ दिखायी देता है। कृषि से जुड़ी आबादी के बीच वर्ग ध्रुवीकरण लगातार तेज़ गति से जारी है। बाज़ार के लिए उत्पादन की प्रवृत्ति यहाँ भी साफ़-साफ़ दिखायी देती है। खेतिहर बुर्जुआ वर्ग और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के रूप में किसानों का अधिकाधिक विभेदीकरण हो रहा है। साधारण माल उत्पादन से पूँजीवादी माल उत्पादन में प्रभावशाली ढंग से संक्रमण दशकों पहले हो चुका है। अब तो पूँजी की मार गाँव-देहात की आबादी का सर्वहाराकरण करने में कोई भी कोर-कसर नहीं छोड़ रही है। 2 हेक्टेयर से कम जोत वाले सीमान्त और छोटे किसानों की संख्या 2010-11 में 84.97 प्रतिशत थी जो 2015-16 के नये आँकड़े के अनुसार 86.21 प्रतिशत हो चुकी है तथा इन नीचे के 86 प्रतिशत किसानों के पास कुल ज़मीन का मात्र 47 प्रतिशत हिस्सा है जबकि ऊपर के 14 प्रतिशत किसानों के पास ज़मीन का 53 प्रतिशत हिस्सा है।

लेनिन के शब्दों में, "किसानों का ग्रामीण सर्वहारा में रूपान्तरण मुख्यतः उपभोग की वस्तुओं का बाज़ार तैयार करता है, जबकि किसानों का ग्रामीण बुर्जुआ में रूपान्तरण मुख्यतः उत्पादन के साधनों का बाज़ार तैयार करता है। दूसरे शब्दों में, 'किसानों' के सबसे निचले समूहों में हमें श्रम-शक्ति का माल में रूपान्तरण दिखायी देता है, जबकि ऊपरी समूहों में उत्पादन के साधनों का पूँजी में रूपान्तरण दिखायी देता है। इन दोनों ही रूपान्तरणों का परिणाम घरेलू बाज़ार के निर्माण की वह प्रक्रिया होती है जो सिद्धान्त रूप में आमतौर पर सभी पूँजीवादी देशों में स्थापित है" (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ट 166, अंग्रेज़ी संस्करण)। भारत में यही प्रक्रिया घटित हो रही है। कृषि पर निर्भर बहुत बड़ी आबादी की श्रमशक्ति का अब ख़रीदे-बेचे जा सकने वाले माल के तौर पर रूपान्तरण हो रहा है तथा छोटी-सी पूँजीवादी ढंग के कृषकों की आबादी उभर रही है। इसी बात को आँकड़ों की मदद से हम आगे और भी स्पष्ट करेंगे। 'जजमानी प्रथा' जोकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख अवलम्ब हुआ करती थी, आज नाममात्र के लिए रह चुकी है या फिर अपनी अन्तिम साँसें गिन रही है। आज गाँव में रहने वाली ग़ैर-कृषक आबादी अपने जातिगत पेशों को छोड़ रही है या थोड़ा-बहुत कहीं पर पेशागत कार्य होता भी है तो विनिमय के तौर पर अनाज की बजाय मुद्रा प्राथमिकता होती है। कहना नहीं होगा कि ग्रामीण भारत आज वह नहीं रह गया है जोकि वह 70 साल पहले हुआ करता था, उसमें मात्रात्मक ही नहीं बल्कि गुणात्मक बदलाव दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

समाज में मौजूद सभी वर्ग अपने ऐतिहासिक योगदान के तौर पर ही प्रगतिशील और प्रतिगामी होते हैं, क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी होते हैं। वैज्ञानिक समाजवाद के प्रणेताओं और अग्रणी शिक्षकों कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखित 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' की निम्न पंक्तियों से इस बात को हम और आसानी से समझ सकते हैं, "निम्न मध्यम वर्ग के लोग – छोटे कारख़ानेदार, दुकानदार, दस्तकार और किसान – ये सब मध्यम वर्ग के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को नष्ट होने से बचाने के लिए पूँजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं। इसलिए वे क्रान्तिकारी नहीं, रूढ़िवादी हैं। इतना ही नहीं, चूँकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं, इसलिए वे प्रतिगामी हैं। अगर कहीं वे क्रान्तिकारी हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि उन्हें बहुत जल्द सर्वहारा वर्ग में मिल जाना है; चुनांचे वे अपने वर्तमान नहीं, बल्कि भविष्य के हितों की रक्षा करते हैं; अपने दृष्टिकोण को त्यागकर वे सर्वहारा का दृष्टिकोण अपना लेते हैं।"

कृषि की स्थिति भी पूँजीवाद के आम नियमों से स्वतन्त्र नहीं होती है। इसमें भी बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को तबाह-बर्बाद करती है। कृषक स्वयं एक माल उत्पादक होता है। वह बड़ा उत्पादक भी हो सकता है जिसके पास सैकड़ों हेक्टेयर कृषि योग्य जोत हो और वह छोटा भी हो सकता है जोकि अपनी एक-दो हेक्टेयर या बिलकुल नाममात्र की ज़मीन पर सपरिवार मेहनत करके मुश्किल से गुज़ारा भर कर पाता हो। इसलिए सबसे पहले तो यही सवाल खड़ा होता है कि क्या 'किसान' प्रवर्ग में सभी किसानों के हित को 'एक लकड़ी से हाँकना' सम्भव हो सकता है। और यदि ऐसा है तो किसानों के तारणहार बनकर घूम रहे नेता या तो बहुत भोले हैं या फिर कहानी कुछ और ही है! आज के अस्मितावादी और पहचान की राजनीति के दौर-दौरा में किसान पहचान को महिमामण्डित करने वाले और ग़रीब किसानों के स्वघोषित हितैषी असल मायने में उनके कितने हितैषी हैं, यह भी हम अपनी पड़ताल में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

पिछले दो-तीन दशकों से किसान आन्दोलनों में उठायी जाने वाली सबसे प्रमुखतम तीन माँगें हैं; पहली है फ़सल का लाभकारी मूल्य बढ़ाने की माँग और दूसरी है कृषि में होने वाली लागत को कम करने की माँग तथा तीसरी है कृषि ऋण की माफ़ी की माँग। स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों में भी उक्त तीनों ही माँगों को स्थान दिया गया है। सन 2004 में तत्कालीन कांग्रेस नीत 'यूपीए' सरकार के कार्यकाल में मोनकोम्पू साम्बासिवन स्वामीनाथन की अध्यक्षता में अनाज की आपूर्ति को सुनिश्चित करने लिए व किसानों की आर्थिक हालत को बेहतर करने के मक़सद से बनी 'नेशनल कमीशन ऑन फ़ार्मर्स' ने अपनी पाँच रिपोर्टें सरकार के सामने पेश की थीं। आयोग के द्वारा अन्तिम व पाँचवीं रिपोर्ट 4 अक्टूबर 2006 को सौंपी गयी थी। सरकारों द्वारा 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' ('एमएसपी') औसत लागत से 50 प्रतिशत अधिक करने और क़र्ज़ माफ़ी समेत लागत मूल्य कम करने के अलावा आयोग द्वारा की गयी सिफ़ारिशों में भूमि सुधार, सिंचाई, खाद्य सुरक्षा, किसान आत्महत्याओं के समाधान, राज्य स्तरीय किसान आयोग बनाने, सेहत सुविधाओं से लेकर वित्त-बीमा की स्थिति सुनिश्चित करने पर बल दिया गया था।

निश्चय ही देश की काफ़ी बड़ी आबादी कृषि से जुड़ी है किन्तु औसत जोत का आकार छोटा होने के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादकता बेहद कम है, बहुत बड़ी आबादी तो मज़बूरी में खेती-किसानी में उलझी हुई है जिसके पास कोई वैकल्पिक रोज़गार नहीं है। देश के स्तर पर देखा जाये तो 2011 के सामाजिक-आर्थिक सर्वे व 2011-12 की कृषि जनगणना के अनुसार गाँवों के क़रीब 18 करोड़ परिवारों में से 54 प्रतिशत श्रमिक हैं जबकि 30 प्रतिशत कृषक हैं इसके अलावा 14 प्रतिशत सरकारी/ग़ैर-सरकारी नौकरी, 1.6 प्रतिशत ग़ैर-कृषि कारोबार से जुड़े हैं। जैसाकि ऊपर दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है कि किसानों का बहुत बड़ा हिस्सा रसातल में है तथा छोटी जोत होने के कारण न केवल इस हिस्से की उत्पादन लागत औसत से अधिक आती है बल्कि पूँजी के अभाव में यही हिस्सा क़र्ज़ के बोझ तले भी दबा रहता है। 2013 के सैम्पल सर्वे के अनुसार केवल 13 प्रतिशत किसान ही न्यूनतम समर्थन मूल्य, लाभकारी दामों का फ़ायदा उठा पाते हैं और भाजपा के आने के बाद तो यह आँकड़ा 6 प्रतिशत तक ही रह गया है। इसका कारण कुछ और नहीं बल्कि औसत उत्पादन लागत में आने वाले ख़र्च का फ़र्क़ ही है, ज़ाहिर सी बात है अपनी निजी कृषि मशीनों-उपकरणों, बड़ी जोत और धनबल के आधार पर बने रसूख के कारण धनी किसानों की कृषि लागत भी कम आयेगी जबकि हर समय क़र्ज़ के बोझ तले दबे और किराये पर उपकरण-मशीनें लेकर खेती में लगे ग़रीब किसानों की कृषि लागत अधिक आयेगी! और यदि सही पड़ताल के साथ देखा जाये तो यह बात भी स्पष्ट है कि सीमान्त व छोटे किसान के लिए सिर्फ़ कृषि पर निर्भर रहकर अपनी आजीविका तक कमा पाना ख़ासा मुश्किल काम है, इसीलिए परिवार के किसी न किसी सदस्य को ग़ैर-कृषि व्यवसाय या नौकरी-चाकरी में ख़ुद को लगाना पड़ता है। गाँव-देहात में खेती को महिमामण्डित करने वाली कहावतें ख़ूब प्रचलित हैं, किन्तु आज स्थिति यह है कि बेटे हेतु चपरासी की नौकरी के लिए ही एक ग़रीब किसान अपनी ज़मीन का टुकड़ा गहने/रेहन रखने या फिर बेचने तक के लिए तैयार बैठा है! पर्याप्त पूँजी और संसाधन नहीं होने के कारण न केवल कृषि बल्कि सामूहिक चरागाहों के समाप्त हो जाने के साथ ही छोटे पैमाने के पशुपालन भी आज घाटे का सौदा बन चुके हैं। एक हालिया सर्वे

(पेज 10 पर जारी)

क्या वर्तमान किसान आन्दोलन की माँगों से "किसानी के संकट" और गाँव के ग़रीबों की समस्याओं का हल सम्भव है?

(पेज 9 से आगे)

के अनुसार पक्का रोज़गार मिलने की ऐवज में ग़रीब किसानों का 61 प्रतिशत हिस्सा ख़ुशी-ख़ुशी खेती छोड़ने के लिए तैयार बैठा है।

दूसरे पहलू से यदि देखा जाये तो आमतौर पर सीमान्त और छोटा किसान जितनी कृषि पैदावार मण्डी में बेचता है उससे कहीं ज़्यादा साल भर में ख़रीद लेता है। जैसे एक छोटा और सीमान्त किसान गेहूँ, सरसों, बाज़रा, धान जैसी फ़सलों का गुज़ारे लायक़ रखने के बाद एक हिस्सा मण्डी में बेच भले ही ले किन्तु उसे साल भर अन्य कृषि उत्पाद जैसे दालें, चीनी, चावल, पत्ती, तेल, गुड़, तम्बाकू, फ़ल-सब्ज़ी, पशुओं के लिए खल-बिनोला इत्यादि से लेकर वे उत्पाद जिनमें कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पादों का इस्तेमाल होता है ख़रीदने ही पड़ेंगे। कहना नहीं होगा कि यदि फ़सलों के दाम लागत से 50 प्रतिशत अधिक तय होते हैं तो केवल वे उन्हीं फ़सलों के तो होने से रहे जिन्हें छोटी किसानी का 85 प्रतिशत हिस्सा मण्डी तक पहुँचाता है बल्कि ये बढ़े हुए 'लाभकारी' दाम तो सभी फ़सलों पर ही लागू होंगे, या नहीं? तो, अब यह सवाल उठना लाज़िमी है कि फ़सलों के लाभकारी दाम बढ़ाने की माँग किसके हित में जाती है? निश्चय ही महँगाई में सहायक भूमिका निभाने वाली यह माँग खेत मज़दूरों, औद्योगिक मज़दूरों समेत अन्य मज़दूरों के साथ-साथ शहरी ग़रीबों के ख़िलाफ़ तो है ही, बल्कि उक्त माँग असल में ख़ुद ग़रीब किसानों के हितों के भी ख़िलाफ़ जाती है। यह अनायास ही नहीं है कि कांग्रेस नीत 'यूपीए' सरकार के शासन काल में जब समर्थन मूल्यों में तुलनात्मक रूप से वृद्धि की गयी थी तब बदले में बेहिसाब बढ़ी महँगाई ने ग़रीब आबादी की कमर तोड़ने का ही काम किया था। और वहीं दूसरी तरफ़ 2003 से 2013 के 10 वर्षों में कृषि उत्पाद में 13 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी दर्ज हुई किन्तु इसी दौरान किसानों पर क़र्ज़ 24 प्रतिशत बढ़ गया।

खेती किसानी में लागत मूल्य कम करने की माँग को देखा जाये तो पहली बात तो यही स्पष्ट है कि धनी और ग़रीब किसान दोनों का ही औसत ख़र्च यानी कि लागत अलग-अलग आती है, जिस पर हम थोड़ी-सी बात ऊपर कर आये हैं। दूसरा, लागत मूल्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा 'मज़दूरी' भी होता है। धनी किसान और एग्रो बिज़नेस कम्पनियाँ मज़दूरों की श्रमशक्ति का सीधे इस्तेमाल करती हैं और कृषि मशीनरी निर्माण में लगी श्रमिक आबादी भी श्रमशक्ति बेचकर ही ज़िन्दा रहती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्राथमिक ज्ञान हासिल किया हुआ व्यक्ति भी इस बात को भली प्रकार से समझ सकता है कि कृषि की लागत क़ीमतों को कम तभी किया जा सकता है जब कृषि की आगत लागतों ('इनपुट कॉस्ट') को कम किया जाये। और आमतौर पर ये कम तभी हो सकती हैं जब कृषि व सम्बन्धित उद्यमों में लगे श्रमिकों की या तो मज़दूरी घटायी जाये, या उतनी ही मज़दूरी में अधिक घण्टे काम लिया जाये या फिर श्रम की सघनता बढ़ायी जाये। सरकारों से साँठ-गाँठ करके कृषि क्षेत्र में लगी खाद-बीज, 'एग्रो-बिज़नेस' और बैंक-बीमा कम्पनियाँ ख़ुद ही धनी किसानों के पूँजी निवेश का एक माध्यम हैं। निश्चय ही सरकारें इनकी लूट और अँधेरगर्दी पर आँच नहीं आने देंगी। यह बात भी स्पष्ट ही है कि कृषि मशीनों का ज़्यादा इस्तेमाल तो धनी किसान यानी 'कुलक फ़ार्मर' ही करते हैं, सीमान्त और छोटे किसान तो कृषि उपकरणों और मशीनरी को भाड़े-किराये पर ही लेते हैं। इस प्रकार से लागत मूल्यों में कमी की माँग भी समाज के 'किस तबक़े के पक्ष में' जायेगी और 'किस तबक़े के विरुद्ध', यह स्पष्ट है।

किसान आन्दोलनों के घोषणापत्रों में 'क़र्ज़ माफ़ी' भी एक प्रमुख माँग है। यही नहीं विभिन्न चुनावी मदारी क़र्ज़ माफ़ी का मुद्दा उछालकर किसानों के वोट भी बटोरते रहे हैं। स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशें पेश किये जाने के बाद से ही यदि देखा जाये तो कई बार अलग-अलग मौक़ों पर बिजली बिलों से लेकर, क़र्ज़ माफ़ होते रहे हैं किन्तु ग़रीब किसान फिर-फिर क़र्ज़ के बोझ तले ख़ुद को दबा हुआ पाते हैं। इसलिए समस्या के असल कारण कहीं और हैं। तथा क़र्ज़ केवल ग़रीब किसान ही नहीं लेते बल्कि धनी किसान भी लेते हैं जिसे वे माफ़ी के दौरान सीधे तौर पर निगल जाते हैं और शुद्ध मुनाफ़ा कमाते हैं। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया ही था कि कैसे मोदी राज में 615 खाता धारकों के खातों में कृषि ऋण के नाम पर 59 हज़ार करोड़ रुपये भेजे गये। धनी किसान क़र्ज़ माफ़ी का ख़ूब फ़ायदा उठाते हैं। उपरोक्त क़र्ज़ माफ़ी का टोना-टोटका और झाड़-फूँक तात्कालिक तौर पर भले ही राहत देती प्रतीत होती हो किन्तु दूरगामी तौर पर यह भी छलावा मात्र ही है। किसानों की समस्याओं का यह कोई दूरगामी हल नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था की गतिकी ही ऐसी है कि इसमें ग़रीब किसानों की हालत बद से बदतर होती जाती है तथा इनका एक हिस्सा लगातार उजड़कर उजरती मज़दूर यानी अपनी मेहनत बेचकर ज़िन्दा रहने वाले मज़दूर वर्ग में शामिल होता रहता है। फिर क़र्ज़ में दी जाने वाली राशि भी सरकारें जनता से ही तो निचोड़ती हैं। उस बहुत बड़ी मज़दूर आबादी का क्या दोष है जिसकी जेब से गया अप्रत्यक्ष करों का पैसा सरकारें उस पर ख़र्च न करके किसी और पर ख़र्च कर देती हैं?

आज के समय ख़ासतौर पर लाभकारी मूल्य बढ़ाने, लागत मूल्य घटाने, क़र्ज़ माफ़ करने की माँगों के समर्थन में तक़रीबन सभी विपक्षी पार्टियाँ, चुनावी व संशोधनवादी वामपन्थी पार्टियों से जुड़े किसान संगठन, एनजीओ की राजनीति करने वाले, किसान जातियों में वोट बैंक तलाशने वाले क्षेत्रीय गुट, भारत में क्रान्ति की जनवादी और नवजनवादी मंज़िल मानने वाले, 'लकीर की फ़कीरी' करने वाले वामपन्थी संगठन और 'अहो ग्राम्य जीवन' बोलकर रुदालियों की भूमिका में आ जाने वाले अस्मितावादी बुद्धिजीवी लगभग सभी एकजुट हैं। किसान आन्दोलनों की मौजूदा स्थिति और इनकी माँगों का वर्गचरित्र निश्चय ही समाज के प्रबुद्ध, चिन्तनशील और प्रगतिशील तत्त्वों को सोचने के लिए विवश करता है। किसानों के रहनुमा बनकर रणभेरी बजाने वाले आज असल मायने में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की नहीं बल्कि नारोदवादियों, सामाजिक जनवादियों और प्रतिक्रियावादियों की भूमिका निभा रहे हैं। इनकी राजनीति पूँजीवादी कुलक फ़ार्मरों के वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करती है जबकि ग़रीब किसानों के वर्ग हितों पर ये कुठाराघात करने का काम कर रहे हैं।

ग़रीब किसानों के असल हित आज पूरी तरह से मज़दूरों-मेहनतकशों के हितों के साथ जुड़े हुए हैं। एक ऐसी समाज व्यवस्था ही उन्हें आज के दुखों से छुटकारा दिला सकती है जिसमें उत्पादन के साधनों पर मेहनतकशों का नियन्त्रण हो तथा उत्पादन समाज की ज़रूरतों को ध्यान में रखकर हो न की निजी मुनाफ़े को केन्द्र में रखकर। छोटा लगने वाला कोई भी रास्ता मंज़िल तक पहुँचने की दूरी को और भी बढ़ा सकता है। यह बात हम तथ्यों के माध्यम से स्पष्ट कर आये हैं कि लाभकारी मूल्य बढ़ाने और लागत मूल्य घटाने की माँगें असल में ग़रीब किसान आबादी की सही-सही आर्थिक-राजनीतिक माँगें हो ही नहीं सकतीं। थोड़ी सी बातचीत के बाद ग़रीब किसान इस बात को अपने सहज बोध से समझ भी लेते हैं कि प्रत्येक फ़सल के साथ उन्हें दो-चार हज़ार रुपये ज़्यादा मिल भी जायेंगे तो इससे स्थिति में कोई गुणात्मक फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला बल्कि महँगाई बढ़ाकर ब्याज समेत इन्हीं की जेब से ये पैसे वापस निकाल लिए जायेंगे। बेरोज़गारी की मार झेल रहे ग़रीब किसानों के बेटे-बेटियों का गुज़ारा थोड़ी सी ज़मीन में नहीं होने वाला यह बात भी साफ़ है। इसलिए तर्क के आधार पर सोचा जाना चाहिए और अपने सही वर्ग हितों की पहचान की जानी चाहिए। बेरोज़गारी, बढ़ती महँगाई, सबके लिए शिक्षा और चिकित्सा सुविधा, पूँजीवादी लूट का ख़ात्मा, दमन-शोषण का ख़ात्मा आदि वे मुद्दे होंगे जिनके आधार पर व्यापक जनता को एकजुट किया जा सकता है। यही नहीं इन्हीं माँगों के आधार पर ही अन्य जातियों के ग़रीबों के साथ पुश्तैनी तौर पर खेती-किसानी से जुड़ी जातियों के बहुसंख्यकों की एकजुटता भी बनेगी। जायज़ माँगों के लिए एकजुट संघर्ष की प्रक्रिया में ही आपसी भाईचारा और एकता और भी मज़बूत होंगे। पहचान की राजनीति करने वालों, अस्मितावादी एनजीओ मार्का धन्धेबाज़ों और धनी किसानों की माँगों को लेकर ऐड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने वाली किसान यूनियनों से ग़रीब किसानों का कोई भला नहीं होने वाला है। इस बात को जितना जल्दी समझ लिया जाये उतना ही न केवल समाज के लिए बेहतर होगा, बल्कि यह ख़ुद ग़रीब किसानों के लिए भी बेहतर होगा।

रिज़र्व बैंक और सरकार का टकराव और अर्थव्यवस्था की बिगड़ती हालत

(पेज 16 से आगे)

ने विदेशी मुद्रा में सस्ते ब्याज पर ऋण लेकर संकट को टाला था, मगर अब वहाँ भी ब्याज दर बढ़ रहा है, साथ में डॉलर भी महँगा हो रहा है; दोनों के संयुक्त प्रभाव से अब उस क़र्ज़ की लागत भी 8-10% तक पहुँच रही है।

अतः सरकार बैंकों की तिज़ोरी का मुँह खोलकर जो नक़दी डालेगी और उसकी वसूली में छूट देगी, वह तात्कालिक राहत ही होगी, क्योंकि वसूली अनिश्चित काल तक तो टाली नहीं जा सकती। लेकिन उत्पादन में विस्तार की गुंजाइश कहाँ है? ख़रीदार कहाँ है? मुनाफ़ा बढ़ेगा कैसे? श्रमिकों को और कम मज़दूरी देकर, कम श्रमिकों से ही ज़्यादा उत्पादन कराकर भी मुनाफ़े को कितना बढ़ाया जा सकता है जब मज़दूरी पहले से ही बहुत कम है, पहले से ही श्रमिकों का ख़ून बेइन्तहा निचोड़ा जा चुका है।

मुनाफ़ा नहीं बढ़ेगा, पूँजी और बढ़ जायेगी, तो मुनाफ़ा दर और नीचे ही जायेगी, क़र्ज़ चुकाये नहीं जा सकेंगे, उद्योग व बैंक दिवालिया होंगे ही, इसको कुछ वक़्त के लिए टाला जा सकता है, अनिश्चितकाल के लिए नहीं।

इस टकराव का और एक पहलू है कि बुर्जुआ आर्थिक सिद्धान्तकारों के एक बड़े खेमे के अनुसार बाज़ार प्रतियोगिता में जो पूँजीपति कमज़ोर पड़े, पर्याप्त पूँजी न जुटा पाये, उसे डूब जाने देना बेहतर है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार को बाज़ार के क्रियाकलाप में दखल नहीं देना चाहिए। उसका काम टैक्स के पैसे से पूँजीवादी वर्ग की राजसत्ता को प्रबंधित करना और कायम रखना है। उसे टैक्स वसूली की रक़म को किसी और काम में नहीं लगाना चाहिए - न तो जनकल्याण के कामों में, न ही किसी पूँजीपति विशेष के बचाव में। कमज़ोर पूँजीपतियों को किनारे करते जाने से पूँजीवाद लम्बे वक़्त तक मजबूत रहेगा। मौद्रिक अर्थशास्त्री (राजन, पटेल, आचार्या, आदि सब इसी समूह से हैं) ख़ास तौर से यही कहते आये हैं कि सरकार को वित्तीय घाटे में नहीं होना चाहिए। आचार्या से भी ज़्यादा ज़ोर से इस बात को दूसरे डिप्टी गवर्नर विश्वनाथन ने कहा कि क़र्ज़दारों को बचाने का काम रिज़र्व बैंक का नहीं है। फिर रघुराम राजन भी इनकी हिमायत में मैदान में उतरे और कहा कि यहाँ नक़दी का नहीं, दिवालिया होने का सवाल है इसलिए इसका समाधान रिज़र्व बैंक की तिज़ोरी खोलने से नहीं, पूँजीपतियों द्वारा और पूँजी लगाने से होगा जो उन्हें बाज़ार से जुटानी चाहिए या सरकार मदद करना चाहती है तो टैक्स लगाकर पैसा जुटाये। लेकिन एक दूसरा खेमा भी है। 20वीं सदी में गहराते पूँजीवादी संकट और सर्वहारा क्रान्तियों की शुरुआत के बाद जॉन मेनार्ड कींस, आदि बुर्जुआ अर्थशास्त्री नया विचार लाये। कींस का मशहूर कथन है - 'लम्बे वक़्त में तो हम सब मर जायेंगे!' अर्थात कुछ बड़े पूँजीपतियों को डूबने दिया गया तो पूँजीवाद की पूरी इमारत ही ढह जा सकती है। इसलिए पूँजीवादी सरकारों की ज़िम्मेदारी है कि कहीं से रक़म जुटाकर या घाटे के बजट अर्थात क़र्ज़ लेकर भी पूँजीपतियों के बचाव के कदम उठायें। वैसे असल में तीसरा रास्ता अख़्तियार किया जाता है - जब सवाल जनता के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास जैसी सुविधाओं पर ख़र्च का हो तो पूरा पूँजीपति वर्ग एक राय से मौद्रिक नीति का समर्थक हो जाता है - ग़रीब मज़दूर-किसानों को खैरात-सबसिडी, राशन क्यों, उससे वे कामचोर बन जाते हैं, जैसा कुछ दिन पहले मद्रास हाई कोर्ट ने भी कहा! सब निजी करो, जो ख़रीद सकता है ख़रीदे। पर जब किसी सरमायेदार पर विपत्ति आए तो अर्थव्यवस्था बचाने के नाम पर नये-नये टैक्स लगाकर पूँजीवादी सरकार उसके बचाव का इन्तज़ाम करती है। इस नीति पर सरकार-रिज़र्व बैंक दोनों में सैद्धान्तिक तौर पर एकराय है। इस सैद्धान्तिक सहमति के बावजूद अब सिर फुटव्वल की वजह क्या है?

वजह है कि सरकार इस सहमति को अब तोड़ रही है; पेट्रोल-डीजल से जीएसटी तक तमाम क़िस्म के टैक्स लगाने व कर वसूली में बढ़त के सारे दावों के बावजूद सरकार पूँजीपतियों की मदद लायक़ रक़म का इन्तज़ाम नहीं कर पा रही; ओएनजीसी, एलआईसी जैसी सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को वह पहले ही दुह चुकी। अब रिज़र्व बैंक की पूँजी अर्थात नये नोट छापने की उसकी क्षमता का इसके लिए इस्तेमाल करना चाहती है। यह स्थिति सिर्फ़ भारत में ही नहीं है। कुछ दिन पहले ट्रंप भी फेडरल रिज़र्व के पॉवेल पर भड़ास निकाल चुका है, उधर थेरेजा मे बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड पर भड़की हुई है! क्यों?

मार्क्स ने बहुत पहले बताया था कि सारे बुर्जुआ अर्थशास्त्री संकट का हल मुद्रा, नक़दी, ऋण के क्षेत्र में ढूँढ़ते हैं लेकिन संकट की वजह ये नहीं है। असल संकट तो उत्पादन के क्षेत्र में है; अतिउत्पादन और मुनाफ़े की गिरती दर की प्रवृत्ति मुद्रा, नक़दी, ऋण का संकट पैदा करती है। मूल संकट का समाधान पूँजीवाद में मुमकिन ही नहीं। इसलिए किसी तात्कालिक उपाय की तलाश में ये आपसी सिर फुटव्वल हो रही है।

फ़्रांस की सड़कों पर फूटा पूँजीवाद के ख़िलाफ़ जनता का गुस्सा

– आनन्द सिंह

फ़्रांस के लगभग सभी बड़े शहरों में मज़दूर, छात्र-युवा और आम नागरिक राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रों की पूँजीपरस्त नीतियों के विरोध में सड़कों पर हैं और विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा है। यह लेख लिखे जाते समय 'येलो वेस्ट मूवमेण्ट' नाम से मशहूर इस स्वत:स्फूर्त जुझारू आन्दोलन को शुरू हुए एक महीने से भी अधिक का समय बीत चुका है। मैक्रों सरकार द्वारा ईंधन कर में बढ़ोतरी करने के फ़ैसले के विरोध से शुरू हुआ यह आन्दोलन देखते ही देखते संकटग्रस्त पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा आम जनता की ज़िन्दगी की बढ़ती कठिनाइयों के ख़िलाफ़ एक व्यापक जनउभार का रूप धारण करने लगा और आन्दोलन द्वारा उठायी जा रही माँगों में न्यूनतम मज़दूरी बढ़ाने, करों का बोझ कम करने, अमीरों पर कर बढ़ाने और यहाँ तक कि राष्ट्रपति मैक्रों के इस्तीफ़े जैसी माँगें शामिल हो गयीं। आन्दोलन की शुरुआत में मैक्रों ने इस बहादुराना जनविद्रोह को नज़रअन्दाज़ किया और उसे सशस्त्र बलों द्वारा बर्बरतापूर्वक दमन के सहारे कुचलने की कोशिश की। कई जगहों पर प्रदर्शनकारियों और सुरक्षा बलों की झड़पें भी हुईं। इस आन्दोलन के दौरान अब तक क़रीब 2000 प्रदर्शनकारियों को गिरफ़्तार किया जा चुका है। परन्तु जैसाकि अक्सर होता है पुलिसिया दमन की हर कार्रवाई से आन्दोलन बिखरने की बजाय और ज़्यादा फैलता गया और जल्द ही यह जनबग़ावत जंगल की आग की तरह फ़्रांस के कोने-कोने तक फैल गयी।

इस आन्दोलन की व्यापकता का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पूँजीवादी मीडिया द्वारा आन्दोलन को बदनाम करने की तमाम कोशिशों के बावजूद विभिन्न सर्वेक्षणों के मुताबिक़ इसे फ़्रांस की दो-तिहाई से अधिक आबादी का समर्थन प्राप्त है। यह इस आन्दोलन के जुझारूपन का ही नतीजा था कि जनान्दोलनों का बर्बरतापूर्वक दमन करने की नवउदारवादी निरंकुशता के हिमायती राष्ट्रपति मैक्रों को घुटने टेकने पड़े और उसे न सिर्फ़ ईंधन कर में बढ़ोतरी के फ़ैसले को वापस लेना पड़ा बल्कि न्यूनतम मज़दूरी में 100 यूरो की बढ़ोतरी करनी पड़ी, विभिन्न करों में कटौती करनी पड़ी और बोनस तथा पेंशन के प्रावधान विस्तारित करने पड़े।

फ़्रांस की जनता का स्वत:स्फूर्त जनउभार यह दिखा रहा है कि संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद में मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने के लिए जो उपाय किए जा रहे हैं, वे मेहनतकशों की ज़िन्दगी पर कहर बरपा कर रहे हैं। यह फ़्रांस में आम लोगों की ज़िन्दगी की बढ़ती जद्दोजहद से पैदा हुए आक्रोश का ही नतीजा था कि पिछले राष्ट्रपति ओलान्दे को राष्ट्रपति चुनाव में बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी थी। परन्तु नये राष्ट्रपति मैक्रों ने भी नवउदारवादी नीतियों को निर्लज्ज ढंग से लागू करना जारी रखा जिससे आम लोगों की ज़िन्दगी बद से बदतर होती गयी। दुनिया के तमाम देशों की ही तरह फ़्रांस में हाल के वर्षों में जहाँ एक ओर मज़दूरी स्थिर रही, वहीं दूसरी ओर करों का बोझ बढ़ता गया है और किफ़ायतसारी की नीतियों के तहत कल्याणकारी नीतियों में कटौती होने से सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा बढ़ती जा रही है। फ़्रांस के मौजूदा जनउभार को इसी पृष्ठभूमि में ही देखने की ज़रूरत है।

मैक्रों द्वारा धड़ल्ले से लागू की जाने वाली नवउदारवादी नीतियों के ख़िलाफ़ पल रहे जनता के गुस्से के फूट पड़ने की तात्कालिक वजह ईंधन कर में बढ़ोत्तरी थी जो जलवायु परिवर्तन को रोकने के लिए 2015 में हुए पेरिस समझौते के तहत की गयी थी। मुनाफ़े की अन्तहीन हवस के लिए प्रकृति को तबाह करने के बाद पूँजीपति वर्ग द्वारा प्रकृति को बचाने की पूरी ज़िम्मेदारी मेहनतकशों पर डालने की घृणित चाल उल्टी पड़ गयी। ईंधन कर में बढ़ोत्तरी का सीधा असर उन मज़दूरों और निम्न मध्यवर्ग के लोगों की ज़िन्दगी पर हुआ जिन्हें मोटरसाइकिल या अन्य छोटे वाहनों से अपने काम पर जाने के लिए लम्बा सफ़र तय करना पड़ता है। यही वजह है कि फ़्रांस का मौजूदा जनउभार बड़े शहरों की परिधि पर बसे क़स्बों और गाँवों से शुरू हुआ जहाँ से लोग रोज़ जीविका के लिए वाहनों से बड़े शहरों की ओर जाते हैं। लेकिन जल्द ही बड़े शहरों के लोग भी इस आन्दोलन में शामिल होने लगे और यह आन्दोलन ईंधन कर में बढ़ोतरी वापस लेने की माँग तक सीमित न रहकर पूँजीवाद के ख़िलाफ़ एक व्यापक जनउभार की शक्ल अख़्तियार करने लगा। बढ़ती महँगाई और सामाजिक असुरक्षा की मार झेल रहे मज़दूरों और निम्न मध्यवर्ग के लोगों के अलावा इस आन्दोलन में लगातार बढ़ती फ़ीसों और शिक्षा व्यवस्था पर सरकारी ख़र्च में कटौती से परेशान छात्र और बेरोज़गारी से जूझ रहे युवा, आम महिलाएँ एवं पेंशन में कटौती से त्रस्त बुजुर्ग भी शामिल होने लगे।

फ़्रांस के इस जुझारू जनान्दोलन से पूँजीपति शासक वर्ग की नींद उड़ गयी। पूँजीवादी मीडिया ने इस आन्दोलन को "हिंसक" और "दंगाइयों की करतूत" घोषित करने और सशस्त्र बलों की बर्बरता को जायज़ ठहराने की पुरज़ोर कोशिश की, परन्तु सोशल मीडिया पर वायरल हुई तमाम वीडियो से मैक्रों सरकार का निरंकुश जनविरोधी चरित्र खुलकर सामने आ गया जिसने आन्दोलन की आग में घी डालने का काम किया। पेरिस में 1968 के रैडिकल छात्र आन्दोलन के बाद के 50 वर्षों में यह आन्दोलन सबसे बड़ा और सबसे जुझारू जनान्दोलन बन चुका है।

हालाँकि यह भी सच है कि इस आन्दोलन में सरकार की नीतियों के विरोध और सत्ता परिवर्तन से आगे बढ़कर व्यवस्था परिवर्तन की ओर जाने की सम्भावना नहीं दिखती। इसकी वजह यह है कि पूँजीवादी लूटेरी नीतियों के ख़िलाफ़ जनता के गुस्से की स्वत: स्फूर्त अभिव्यक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ यह आन्दोलन नेतृत्वविहीन है। इस आन्दोलन के प्रवक्ता इसे 'अराजनीतिक' घोषित करते हैं और इसे सभी विचारधाराओं से ऊपर बता रहे हैं। इस प्रकार वे फ़्रांसीसी समाज में जारी तीखे वर्ग संघर्ष में मेहनतकशों को शस्त्रविहीन कर रहे हैं। इस आन्दोलन के निशाने पर पूँजीपतियों के राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप में मैक्रों सरकार और उसकी जनविरोधी नीतियाँ तो हैं परन्तु समूची पूँजीवादी व्यवस्था पर कोई सवाल नहीं उठाया जा रहा है। ऐसे में यह क़तई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस आन्दोलन में धुर दक्षिणपन्थी ताक़तें भी घुसपैठ कर रही हैं और अपनी लोकरंजक बातों से जनता का ध्यान भटकाने में सफल हो रही हैं। हालाँकि ट्रेड यूनियनों के कार्यकर्ता इस आन्दोलन में बढ़चढ़कर भागीदारी कर रहे हैं, लेकिन इन यूनियनों का संशोधनवादी नेतृत्व लोगों के गुस्से की आग में पानी के छींटे फेंकने का काम कर रहा है। फ़्रांस की छह बड़ी ट्रेड यूनियनों ने मैक्रों सरकार से एक समझौते पर हस्ताक्षर किया जिसमें हर प्रकार की हिंसा का पुरज़ोर विरोध किया गया और विरोध प्रदर्शनों का नेतृत्व करने की बजाय मैक्रों सरकार से बातचीत करके शान्तिपूर्वक ढंग से मामले का निपटारा करने की बात कही गयी है। दूसरे शब्दों में कहें तो संशोधनवादियों ने आन्दोलन की हवा निकालने की पूरी तैयारी कर ली है। फ़्रांसीसी समाज में जारी इस वर्ग संघर्ष में जब पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि मैक्रों सरकार को यह समझ में आया कि दमन से काम नहीं चलेगा तो वह अब अपना पैंतरा बदलकर बातचीत करके शान्तिपूर्ण ढंग से आन्दोलन को ख़त्म करने की चाल चल रही है और इसमें संशोधनवादी हमेशा की तरह पूँजीवाद की तीसरी रक्षापंक्ति का काम मुस्तैदी से करते दिखायी दे रहे हैं।

फ़्रांस में जारी इस स्वत:स्फूर्त जुझारू जनान्दोलन को 2007-08 से जारी पूँजीवाद के विश्वव्यापी संकट से उबरने के लिए शासकों द्वारा आम जनता पर डाले जाने वाले बोझ की प्रतिक्रिया में उपजे आक्रोश और मोहभंग की अभिव्यक्ति के रूप में ही देखा जा सकता है। बीसवीं सदी में पश्चिम के साम्राज्यवादी मुल्क़ों के शासक वर्गों ने दुनिया भर में जारी साम्राज्यवादी लूट के एक हिस्से से वहाँ के मेहनतकशों को रियायत देकर वर्ग संघर्ष मज़दूर वर्ग की धार को भोथरा करने का काम किया था। लेकिन आज साम्राज्यवाद इतना जर्जर हो चुका है कि वह विकसित पूँजीवादी देशों के मेहनतकशों को भी इंसानी ज़िन्दगी जीने के लिए ज़रूरी बुनियादी सुविधाएँ तक मुहैया करा पाने में सक्षम नहीं है। यही वजह है कि 2007-08 के बाद से कई साम्राज्यवादी मुल्क़ों में पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलन हुए हैं। आज फ़्रांस जैसे साम्राज्यवादी मुल्क़ में परिस्थितियाँ क्रान्तिकारी संकट की ओर भले ही न जाती दिख रही हों, परन्तु यदि पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलन का क्रान्तिकारी नेतृत्त्व होता तो यह जनान्दोलन विश्व पूँजीवाद के संकट को और भी ज़्यादा घनीभूत करने और तीसरी दुनिया के उत्तर-औपनिवेशिक देशों में क्रान्तिकारी परिस्थिति तक पहुँचाने में उत्प्रेरण का काम कर सकता था।

यह निश्चिन्त होने का नहीं बल्कि फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई को और व्यापक व धारदार बनाने का समय है!

(पेज 8 से आगे)

की प्रक्रिया से जोड़कर आसानी से देखा जा सकता है। नवउदारवादी नीतियों को लागू करने से और ''नरम हिन्दुत्व'' की लाइन लागू करने से कांग्रेस को भी कोई परहेज़ नहीं रहा है। छोटे पूँजीपतियों और पूँजीवादी भूस्वामियों की क्षेत्रीय पार्टियों को भी इन नीतियों से या भाजपा से गाँठ जोड़ने से कोई परहेज़ नहीं रहा है, लेकिन इन दलों के पीछे न तो कोई धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है न ही कोई कैडर आधारित ढाँचा है। इसलिए, ज़मीनी स्तर पर जाकर साम्प्रदायिक आधार पर जनसमुदाय को बाँटने और मज़दूरों की संगठित शक्ति या उनके संगठित होने की सम्भावनाओं पर चोट करने के मामले में ये पार्टियाँ भाजपा और संघ परिवार जितनी प्रभावी कभी नहीं हो सकतीं। ये सत्ता में आ भी जायें तो नवउदारवाद की नीतियों पर अमल में तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा, लेकिन समाज में नीचे तक जनता को बाँटने के लिए और मेहनतकश जनता की एकजुटता पर चोट करने के लिए हिन्दुत्ववादी फासिस्ट तब भी उसी व्यापकता और बर्बरता के साथ काम करते रहेंगे। किसी भी सूरत में भाजपा की किसी चुनावी शिकस्त का मतलब फासिस्ट ताकतों का पीछे हटना मानना एक खतरनाक मुग़ालते का शिकार होना होगा।

दूसरी ओर, यह भी याद रखना होगा कि संसदीय वामपंथी दलों ने मज़दूर वर्ग को अर्थवाद व संसदीय विभ्रमों में उलझाकर अराजनीतिक और निहत्था बनाने में एकदम वही भूमिका निभायी है जो 1920 और 1930 के दशक में यूरोपीय सामाजिक जनवादी पार्टियों ने निभायी थी। जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद के सत्ता में आने में इन पार्टियों की भी भूमिका थी। भारत में संसदीय वामपंथियों ने हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ विरोधी संघर्ष को मात्र चुनावी हार-जीत का और कुछ रस्मी प्रतीकात्मक विरोध का मुद्दा बना दिया है। और अब ये तृणमूल स्तर पर मेहनतकशों को साथ लेकर फासिस्ट कैडरों की सरगर्मियों की प्रभावी काट कर सकने की क्षमता खो चुके हैं। जहाँ तक क्रान्तिकारी वाम की बिखरी शक्तियों का सवाल है, अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरियों के कारण और लम्बे समय से जारी बिखराव-ठहराव के कारण फिलहाल वे प्रभावी हस्तक्षेप की स्थिति में नहीं हैं। ऐसे में फासिज़्म विरोधी नयी लामबन्दी की एकदम नये सिरे से ही शुरुआत करने की कठिन चुनौती हमारे सामने है। पूँजी की शक्तियों ने राज्य के उपकरणों के ज़रिए अपना वर्चस्व स्थापित करने के साथ ही, वर्गों के युद्ध में अपने फासिस्ट गुर्गों के ज़रिए समाज में कई रूप में अपनी खन्दकें खोद रखी हैं और बंकर बना रखे हैं। इनसे मुकाबले के लिए हमें वैकल्पिक शिक्षा, प्रचार और संस्कृति के अपने तंत्र के ज़रिए प्रति-वर्चस्व के लिए जूझना होगा, मज़दूर वर्ग को राजनीतिक स्तर पर शिक्षित-संगठित करना होगा और मध्य वर्ग के रैडिकल तत्वों को उनके साथ खड़ा करना होगा। संगठित क्रान्तिकारी कैडर शक्ति की मदद से हमें भी अपनी खन्दकें खोदकर और बंकर बनाकर पूँजी और श्रम की ताक़तों के बीच मोर्चा बाँधकर चलने वाले लम्बे वर्गयुद्ध में पूँजी के भाड़े के गुण्डे फासिस्टों से मोर्चा लेना होगा। यह रणनीति राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि समाज और संस्कृति के हर मोर्चे पर हमें लागू करनी होगी।

मोदी सरकार के कारनामों से मोहभंग के कारण देश भर में मेहनतकश लोग और छात्र-नौजवान सड़कों पर उतरकर अपना विरोध दर्ज करा रहे हैं। संघ परिवार द्वारा फैलाये जा रहे नफ़रत के ज़हर के ख़िलाफ़ भी बुद्धिजीवियों-लेखकों-कलाकारों से लेकर आम नागरिक भी लगातार आवाज़ उठा रहे हैं। इस विरोध में भी छात्र-नौजवान अगली कतारों में हैं। नरेन्द्र मोदी का पाखण्डी मुखौटा तार-तार हो चुका है। देश ही नहीं, विदेशों में भी उसकी थू-थू हो रही है और देश में संघ परिवार द्वारा फैलाये जा रहे घृणा के वातावरण की कड़ी आलोचना हो रही है। लेकिन महज़ इतने से ही साम्प्रदायिक फासीवाद अपने दड़बे में नहीं सिमट जायेगा।

मगर पूँजीवादी दलों की किसी नयी सरकार का बनना मेहनतकश आबादी के लिये साँपनाथ की जगह नागनाथ का कुर्सी पर बैठना ही साबित होगा। लुटेरों के एक गिरोह की जगह दूसरे गिरोह के लुटेरे उन्हें लूटेंगे। देशी-विदेशी पूँजीपतियों की लूट न केवल जारी रहेगी बल्कि वह और बढ़ती ही जायेगी।

(पेज 13 पर जारी)

गाँव के ग़रीबों का हित किसके साथ है?

लेनिन

*(रूसी क्रान्ति के नेता **लेनिन** की कृति **'गाँव के ग़रीबों से'** 1903 के वसन्त में रूस में स्वतःस्फूर्त किसान आन्दोलन के उभार के समय लिखी गयी थी। किसानों की वर्गीय संरचना के विश्लेषण के आधार पर लेनिन दिखाते हैं कि देहात में सभी किसानों के हित एक समान नहीं हैं। लेनिन लिखते हैं कि गाँव के ग़रीब लोग सिर्फ़ मज़दूर वर्ग से मिलकर शोषण से मुक्ति पा सकते हैं, क्योंकि मज़दूर वर्ग वह एकमात्र शक्ति है, जो न सिर्फ़ भूदास-प्रथा के अवशेषों का उन्मूलन करने और राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने के लिए सारे किसान वर्ग की लड़ाई का नेतृत्व कर सकता है, बल्कि गाँव के ग़रीब लोगों के साथ मिलकर उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को ख़त्म करने और समाजवादी रूपान्तरण को अमल में लाने में समर्थ है।*

देश और काल के अन्तर के बावजूद इस पुस्तिका का विश्लेषण आज के भारत में भी गाँव के ग़रीबों को उनके संघर्ष की सही दिशा को समझने में बहुत मददगार हो सकता है। हम इस पुस्तिका के एक अध्याय "देहात में अमीरी और ग़रीबी, सम्पत्तिवान और मज़दूर" के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। आज देश में जिन किसान आन्दोलनों की बहुत चर्चा है, उनके सन्दर्भ में इसे पढ़ना सोच को नयी दिशा देगा, ऐसी हमें उम्मीद है। साथ ही, हम इस विषय में रुचि रखने वाले सभी व्यक्तियों को लेनिन की यह पूरी पुस्तिका ज़रूर पढ़ने का भी सुझाव देंगे – सम्पादक)

... लेकिन किसान यह नहीं जानता कि उसकी विपदा, भूख और तबाही का कारण क्या है और कैसे इस ग़रीबी से उसे निजात मिल सकती है। यह जानने के लिए हमें सबसे पहले यह समझना चाहिए कि शहर और देहात, दोनों में अभाव और ग़रीबी का स्रोत क्या है। हम थोड़े में यह पहले ही बता चुके हैं और देख चुके हैं कि ग़रीब किसानों और देहाती मज़दूरों को शहरी मज़दूरों के साथ ऐक्यबद्ध होना चाहिए। लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। आगे यह पता लगाना ज़रूरी है कि देहात में किस तरह के लोग धनियों और सम्पत्तिवानों की ओर होंगे और किस तरह के लोग मज़दूरों की तरफ़, सामाजिक-जनवादियों की तरफ़ होंगे। यह पता लगाना ज़रूरी है कि क्या ऐसे किसान बहुत हैं, जो पूँजी जमा करने और दूसरों की मेहनत पर जीने में ज़मींदारों से कुछ कम समर्थ नहीं हैं। जब तक हम इस बात की तह तक नहीं पहुँचते, तब तक ग़रीबी के बारे में चाहे जितनी भी बात क्यों न की जाये, सब फ़िज़ूल होगी; तब तक गाँव के ग़रीब यह नहीं समझ सकेंगे कि गाँव के कौन-से लोग हैं, जिनके लिए आपस में और शहर के मज़दूरों के साथ एका करने की ज़रूरत है और ऐसा किस प्रकार किया जाये कि यह मेल पक्का बन जाये, कि ज़मींदार के अलावा उसके अपने भाईबन्द – धनी किसान – उसे ठग न पायें।

... ...

बात यह है कि किसान भी तरह-तरह के हैं: ऐसे भी किसान हैं, जो ग़रीब और भूखे हैं, और ऐसे भी हैं, जो धनी बनते जाते हैं। फलतः ऐसे धनी किसानों की गिनती बढ़ रही है, जिनका झुकाव ज़मींदारों की ओर है और जो मज़दूरों के विरुद्ध धनियों का पक्ष लेंगे। शहरी मज़दूरों के साथ एकता चाहने वाले गाँव के ग़रीबों को बहुत सावधानी से इस बात पर विचार करना और उसकी छानबीन करनी चाहिए कि इस तरह से धनी किसान कितने हैं, वे कितने मज़बूत हैं और उनकी ताक़त से लड़ने के लिए हमें किस तरह के संगठन की ज़रूरत है। अभी हमने किसानों के बुरे सलाहकारों का ज़िक्र किया था। इन लोगों को यह कहने का बहुत शौक़ है कि किसानों के पास ऐसा संगठन पहले ही मौजूद है। वह है मिर या ग्राम-समुदाय। वे कहते हैं, ग्राम-समुदाय एक बड़ी ताक़त है। ग्राम-समुदाय बहुत मज़बूती के साथ किसानों को ऐक्यबद्ध करता है; ग्राम-समुदाय के रूप में किसानों का संगठन (अर्थात संघ, यूनियन) विशाल (मतलब कि बहुत बड़ा, असीम) है।

यह सच नहीं है। यह परी-कथा ही है, चाहे उसे नेक लोगों ने ही क्यों न गढ़ा हो। यदि हम परी-कथाओं पर कान देंगे, तो हम अपने लक्ष्य को, गाँव के ग़रीबों और शहरी मज़दूरों को ऐक्यबद्ध करने के लक्ष्य को तबाह कर देंगे। हर ग्रामवासी अपने चारों ओर ध्यान से देखे: क्या ग्राम-समुदाय का साहचर्य सभी धनियों के ख़िलाफ़, दूसरों की मेहनत पर जीने वाले सभी लोगों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए ग़रीबों के संघ के अनुरूप है? नहीं, न अनुरूप है और न हो ही सकता है। हर गाँव में, हर ग्राम-समुदाय में बहुत-से खेत-मज़दूर, बहुत-से कंगाल किसान हैं और साथ ही धनी किसान भी हैं, जो खेत-मज़दूरों से काम लेते हैं और "इस्तमरारी" भूमि ख़रीदते जाते हैं। ये धनी किसान भी ग्राम-समुदाय के सदस्य हैं और वे ही ग्राम-समुदाय के ऊपर हावी हैं, क्योंकि वे ताक़त हैं। क्या यही संघ हम चाहते हैं, जिसमें धनी हों और जिसमें धनियों की प्रभुता हो? कभी नहीं! हम धनियों से लड़ने के लिए संघ चाहते हैं। फलतः ग्राम-समुदाय का साहचर्य हमारे लिए बिल्कुल ही बेकार है।

हमें एक ऐसा संगठन चाहिए, जिसमें लोग अपनी मर्ज़ी से शामिल हों, जो केवल ऐसे लोगों का संगठन हो, जिन्होंने यह समझ लिया है कि उन्हें शहरी मज़दूरों के साथ एकता की ज़रूरत है। ग्राम-समुदाय में किसान अपनी मर्ज़ी से शामिल नहीं होते, उसमें उनका शामिल होना अनिवार्य होता है। ग्राम-समुदाय उन लोगों को मिलाकर नहीं बना है, जो धनियों के लिए काम करते हैं और जो धनियों से लड़ने के लिए एक होना चाहते हैं। ग्राम-समुदाय में हर क़िस्म के लोग हैं, अपनी मर्ज़ी से नहीं, बल्कि इसलिए कि उनके माता-पिता उसी भूमि पर आबाद रहे, उसी ज़मींदार के लिए काम करते रहे, इसलिए कि अधिकारियों ने उन्हें उसी समुदाय का मेम्बर दर्ज किया है। ग़रीब किसानों को न ग्राम-समुदाय छोड़ने की आज़ादी है, न किसी ऐसे आदमी को उसमें लेने का अख़्तियार है, जिसे पुलिस ने किसी दूसरे वोलोस्त में दर्ज कर रखा है, लेकिन जिसकी हमारे लिए, हमारे संघ के लिए ज़रूरत यहीं हो सकती है। नहीं, हम जैसा संघ चाहते हैं, वह बिल्कुल दूसरी क़िस्म का है; हम एक ऐसा संघ चाहते हैं, जिसमें लोग अपने मन से शामिल हों, जिसमें दूसरों के श्रम पर जीने वालों से लड़ने के लिए खेत-मज़दूरों और ग़रीब किसानों को छोड़कर और कोई न हो।

वह समय लद गया – और फिर कभी लौटकर नहीं आयेगा – जब ग्राम-समुदाय सचमुच एक ताक़त था। ग्राम-समुदाय उस वक़्त एक ताक़त था, जब किसानों में प्रायः कोई काम की तलाश में रूस के एक छोर से दूसरे छोर तक डोलने वाला खेत-मज़दूर या मज़दूर नहीं था, जब प्रायः कोई धनी किसान नहीं था, जब सबके सब सामन्ती ज़मींदारों द्वारा समान रूप से कुचले जाते थे। मगर अब रुपया सबसे बड़ी ताक़त बन गया है। एक ही ग्राम-समुदाय के आदमी रुपये के लिए जंगली जानवरों की भाँति आपस में लड़ते हैं। रुपये वाले धनी किसान अपने भाई किसानों को सताने और चूसने में कभी-कभी ज़मींदारों से भी बढ़ जाते हैं। आज हमें तो कुछ चाहिए, वह ग्राम-समुदाय का साहचर्य नहीं है; हमें ऐसे संघ की ज़रूरत है, जो रुपये की सत्ता के ख़िलाफ़, पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ हो, जो विभिन्न ग्राम-समुदायों के सभी देहाती मज़दूरों और सभी ग़रीब किसानों का संघ हो, जो ज़मींदारों और धनी किसानों – समान रूप से दोनों – के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए शहरी मज़दूरों के साथ गाँव के सभी ग़रीबों का संघ हो।

... जिन ज़मीनों पर धनी किसान धनी बनता है, वे उनकी अपनी ज़मीनें नहीं हैं: वह दूसरों की बहुत सारी ज़मीन ख़रीदता है। उसकी ख़रीद "इस्तमरारी" (यानी अपनी निजी मिल्क़ियत के रूप में) और "चन्द-सालों के लिए" (यानी पट्टे पर), दोनों होती हैं। वह या तो ज़मींदारों से ज़मीन ख़रीदता है या अपने भाई किसानों से, उन किसानों से, जो ज़मीन छोड़ देते हैं या तंगहाली के कारण उसे लगान पर उठाने के लिए मजबूर हो जाते हैं। इन कारणों से धनी, मँझोले और ग़रीब किसानों में फ़र्क़ करने के लिए सबसे अच्छा ढंग यह है कि हम उनके घोड़ों की गिनती करें। जिसके पास बहुत घोड़े हैं, वह लगभग सदा ही धनी किसान होगा। जिसके पास अधिक संख्या में कामकाजी मवेशी हैं, वह, जाहिर है, ज़्यादा ज़मीन जोतता है, उसके पास आवंटित ज़मीन के अलावा और भी ज़मीन है और उसने रुपये भी जोड़ रखे हैं। इसके अतिरिक्त, यूरोपीय रूस में (साइबेरिया और काकेशिया को छोड़कर) बहुत-से घोड़े रखने वाले किसानों की तादाद मालूम की जा सकती है। बेशक यह नहीं भूलना चाहिए कि समस्त रूस के बारे में हम केवल औसत आँकड़े ही दे सकते हैं, विभिन्न उयेज़्दों तथा गुबेर्नियाओं की स्थिति एक जैसी नहीं है। मिसाल के तौर पर, शहरों के आस-पास हमें अक्सर ऐसे धनी किसान मिलते हैं, जिनके पास बहुत कम घोड़े होते हैं। उनमें से कुछ साग-सब्ज़ी की काश्त करते हैं, जो बड़े मुनाफ़े का कारोबार है। कुछ और हैं, जिनके पास घोड़े तो कम हैं, परन्तु गायें बहुत हैं और वे दूध बेचते हैं। रूस के सभी इलाक़ों में ऐसे किसान भी हैं, जो ज़मीन से धन नहीं कमाते, बल्कि व्यापार करते हैं – उन्होंने दूध में से मक्खन निकालने की डेरियाँ, छिलका उतारने की मशीनें तथा अन्य प्रकार की फ़ैक्टरियाँ लगा रखी हैं। जो लोग देहात में रहते हैं, वे अपने गाँव या जिले के धनी किसानों को अच्छी तरह जानते हैं। लेकिन हमें यह पता लगाना है कि पूरे रूस में इस तरह के कितने किसान हैं और उनकी ताक़त क्या है, ताकि ग़रीब किसान शायद के चक्कर में न रहे, अँधेरे में न टटोलता रहे। तभी ग़रीब किसान अच्छी तरह समझ सकेंगे कि कितने उनके दोस्त हैं और कितने दुश्मन। *(उस समय रूस में खेत की जुताई का काम घोड़ों से लिया जाता था – सं.)*

... जितनी ज़मीन कुल किसान मिलकर जोतते-बोते हैं, उसमें से आधी पर इन्हीं का क़ब्ज़ा है। ऐसे किसान अपनी और अपने परिवार की ज़रूरत से बहुत ज़्यादा अनाज पैदा करते हैं। वे ढेरों अनाज बेचते हैं। वे सिर्फ़ अपने ही खाने के लिए अनाज नहीं पैदा करते, बल्कि मुख्यतः उसे बेचने और रुपया बनाने के लिए पैदा करते हैं। ऐसे किसान धन जोड़ सकते हैं। वे उसे बचत-बैंकों में जमा करते हैं। वे अपने स्वामित्व में ज़मीन ख़रीदते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि हर साल रूस भर में किसान कितनी ज़्यादा ज़मीन ख़रीदते हैं; यह लगभग सारी ज़मीन इन मुट्ठी भर धनी किसानों के पास चली जाती है। गाँव के ग़रीब तो ज़मीन ख़रीदने की बात सोच तक नहीं सकते, वे ज़मीन से अपनी रोटी ही जुटा पायें, तो गनीमत है। ज़मीन ख़रीदने की तो बात ही क्या, उनके पास बहुधा रोटी ख़रीदने के लिए भी पैसा नहीं होता। इसलिए बैंक और विशेषकर किसान बैंक सभी किसानों को ज़मीन ख़रीदने में मदद नहीं देते (जैसा कि किसानों को धोखा देने वाले लोग या बहुत ही सीधे-सादे लोग कभी-कभी कहा करते हैं), वे केवल मुट्ठी भर किसानों को, केवल धनी किसानों को मदद देते हैं। इसलिए जब किसानों के वे बुरे सलाहकार, जिनका हमने ऊपर ज़िक्र किया है, यह कहते हैं कि किसान ज़मीन ख़रीद रहे हैं, कि ज़मीन पूँजी से श्रम के पास पहुँच रही है, तो वे सरासर झूठ बोलते हैं। भूमि कभी भी श्रम, अर्थात ग़रीब मेहनतकश के पास नहीं जा सकती, क्योंकि ज़मीन के लिए पैसा देना होगा और ग़रीबों के पास कभी फ़ाज़िल पैसा नहीं होता। भूमि सिर्फ़ धनी और पैसेवाले किसानों, पूँजीवाले किसानों ही के पास जा सकती है, सिर्फ़ ऐसे लोगों के पास जा सकती है, जिनके विरुद्ध गाँव के ग़रीबों को शहरी मज़दूरों से एका करके लड़ना होगा।

धनी किसान केवल इस्तमरारी ज़मीन ही नहीं ख़रीदते, वे अक्सर कुछ सालों के लिए पट्टे पर भी ज़मीन लेते हैं। स्वयं ज़मीन के बड़े-बड़े टुकड़े पट्टे पर लेकर वे ग़रीब किसानों को ज़मीन हासिल करने से रोकते हैं। ... हिसाब लगाया गया कि किसानों द्वारा ग्राम-समुदाय की मार्फ़त राज्य से पट्टे पर ली जाने वाली ज़मीन में से धनी किसानों ने कितनी ज़मीन हथिया ली। पता चला कि धनी किसानों ने, जो संख्या में कुल किसान परिवारों का पाँचवाँ हिस्सा हैं, पट्टेवाली ज़मीनों का तीन-चौथाई हिस्सा हड़प लिया। हर जगह ज़मीन पैसेवालों के पास जाती है और केवल मुट्ठी भर धनियों के पास ही पैसा है।

आगे चलिए। किसान स्वयं अब बहुत-सी ज़मीन पट्टे पर देने लगे हैं। किसान अपनी आवंटित ज़मीनें छोड़ जाते हैं, क्योंकि उनके पास ढोर और बीज नहीं होते तथा ऐसे साधन नहीं होते, जिनसे खेती चला सकें। आज अगर जेब में पैसा न हो, तो ज़मीन का भी कोई लाभ नहीं। ... किसानों की सारी आवंटित ज़मीनों की एक-चौथाई, अर्थात ढाई लाख देस्यातीना ज़मीन पट्टे पर उठायी जाती है। इस ढाई लाख देस्यातीना में से डेढ़ लाख देस्यातीना (3/5 हिस्सा) ज़मीन धनी किसान पट्टे पर लेते हैं! इससे भी पता चलता है कि ग्राम-समुदाय की एकता से ग़रीबों को कोई लाभ नहीं है। ग्राम-समुदाय में जिसकी जेब में पैसा है, उसी के हाथ में ताक़त है। ज़रूरत इस बात की है कि सभी ग्राम-समुदायों के ग़रीब मिलकर एक हो जायें। *(एक देस्यातीना क़रीब ढाई एकड़ के बराबर होता है – सं.)*

सस्ते हल, कटाई मशीन तथा सभी प्रकार के नये औज़ार ख़रीदने के बारे में भी उसी तरह की बातें कहकर किसानों को धोखा दिया जाता है, जिस तरह ज़मीन की ख़रीदारी के बारे में। जेम्स्त्वो स्टोर और सहकारी समितियाँ खड़ी की जाती हैं और कहा जाता है: नये औज़ारों से किसानों की हालत सुधरेगी। यह एक धोखा है। ये सारे बेहतर औज़ार सिर्फ़ धनी किसान ले जाते हैं, ग़रीबों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। ग़रीब किसान हल और कटाई मशीनें ख़रीदने की बात

(पेज 13 पर जारी)

गाँव के ग़रीबों का हित किसके साथ है?

(पेज 12 से आगे)

सोच भी नहीं सकते, उन्हें चौबीसों घण्टे अपने पेट की फ़िक्र पड़ी रहती है! इस प्रकार की "किसान सहायता" धनियों की सहायता के सिवाय और कुछ नहीं है। जहाँ तक ग़रीब किसानों के विशाल समूह का सम्बन्ध है, जिनके पास न ज़मीन है, न मवेशी और न संचित राशि, उन्हें इस बात से कोई सहायता नहीं मिलती कि बेहतर औज़ार ज़्यादा सस्ते होंगे। एक मिसाल लीजिए। समारा गुबेर्निया के एक उयेज़्द में ग़रीब और धनी किसानों के सभी नये औज़ारों की गणना की गयी। पता चला कि जहाँ सभी परिवारों के पाँचवें हिस्से, अर्थात सबसे अमीर किसान परिवारों के पास नये औज़ारों का लगभग तीन-चौथाई भाग था, वहाँ उन ग़रीब परिवारों के पास केवल तीसवाँ भाग था, जिनकी संख्या कुल किसान परिवारों की आधी है। उस उयेज़्द में कुल 28 हज़ार परिवारों में से 10 हज़ार परिवारों के पास या तो घोड़े बिल्कुल नहीं थे या एक-एक घोड़ा था। सारे उयेज़्द में सभी किसान परिवारों के पास कुल 5724 नये औज़ार थे, जिनमें से उक्त 10 हज़ार परिवारों के पास केवल सात नये औज़ार थे। 5724 में से सात – यह है खेतीबारी के इन सारे सुधारों में गाँव के ग़रीबों का हिस्सा, हलों और कटाई मशीनों की संख्या-वृद्धि में गाँव के ग़रीबों का हिस्सा, जिनके बारे में कहा जाता है कि इनसे "सभी किसानों" को मदद मिलेगी! "किसानों की खेतीबारी को बेहतर बनाने" का शोर मचाने वाले लोगों से गाँव के ग़रीब बस यही आशा कर सकते हैं!

अन्त में, धनी किसानों की एक मुख्य विशेषता यह है कि वे खेती के लिए उजरत पर खेत-मज़दूर और दिहाड़ीदार लगाते हैं। ज़मींदारों की भाँति ही धनी किसान भी दूसरों के श्रम पर जीते हैं। ज़मींदारों की भाँति वे भी इसलिए धनी बनते हैं कि आम किसान तबाह और कंगाल हो जाते हैं। ज़मींदारों की भाँति वे भी अपने खेत-मज़दूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम लेने और उनको कम से कम मज़दूरी देने की कोशिश करते हैं। अगर लाखों किसान पूरी तरह तबाह और दूसरों के लिए काम करने के लिए लाचार न होते, उजरती मज़दूर बनने के लिए लाचार न होते, अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए लाचार न होते, तो धनी किसानों का अस्तित्व न रहता, वे अपनी खेती न चला सकते। तब छोड़ी हुई आवंटित ज़मीन उनके हाथ न लगती और न उजरत पर रखने के लिए मज़दूर होते। सारे रूस में 15 लाख धनी किसान निस्सन्देह कुछ नहीं तो दस लाख खेत-मज़दूरों और दिहाड़ीदारों से काम लेते हैं। यह साफ़ है कि सम्पत्तिवान और सम्पत्तिहीन वर्गों के बीच, मालिकों और मज़दूरों के बीच, बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच होने वाले महान संघर्ष में धनी किसान मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ रहेंगे और सम्पत्तिवान वर्ग का पक्ष लेंगे।

अब हम धनी किसानों की हालत और ताक़त जान चुके हैं। आइए, गाँव के ग़रीबों की हालत पर नज़र डालें।

हम पहले ही कह चुके हैं कि सारे रूस के किसान परिवारों में गाँव के ग़रीबों की प्रबल बहुलता है, वे क़रीब दो-तिहाई हैं। सबसे पहले, बग़ैर घोड़ेवाले परिवारों को ले लीजिए, जो तीस लाख से कम नहीं हैं, बल्कि आजकल और भी अधिक, शायद 35 लाख हैं। हर बार अकाल पड़ने पर या फ़सल के खराब होने पर लाखों गृहस्थियों का सर्वनाश हो जाता है। आबादी बढ़ती है, थोड़ी जगह में ज़्यादा लोग रहने लगते हैं, लेकिन सभी अच्छी ज़मीनें ज़मींदारों और धनी किसानों ने हड़प रखी हैं। इस तरह हर साल अधिकाधिक लोग बर्बाद होते जाते हैं। वे शहरों और कारख़ानों में चले जाते हैं, खेत-मज़दूरी करने लगते हैं, अथवा अकुशल मज़दूर बन जाते हैं। बिना घोड़े का किसान ऐसा किसान है, जो बिल्कुल सम्पत्तिहीन है। वह सर्वहारा है। वह भूमि से नहीं जीता, खेती से अपना पेट नहीं पालता, बल्कि मज़दूरी पर काम करके जीता है (यह कहना ज़्यादा सच होगा कि वह जीता नहीं, बल्कि तन और प्राण को बनाये रखने की कोशिश करता है)। वह शहर के मज़दूर का सगा भाई है। जिस किसान के पास घोड़ा नहीं, उसके लिए ज़मीन भी किसी काम की नहीं: बिना घोड़ेवाले आधे किसान परिवार अपनी आवंटित ज़मीनों को लगान पर उठा देते हैं, कुछ किसान उन्हें मुफ्त ही अपने-अपने ग्राम-समुदाय को सौंप देते हैं (यहाँ तक कि ऊपर से ख़ुद कुछ अदा भी करते हैं!), क्योंकि वे इस स्थिति में नहीं होते कि अपनी ज़मीन की जोताई-बोआई कर सकें। जिस किसान के पास घोड़ा नहीं है, वह एक या ज़्यादा से ज़्यादा दो देस्यातीना ज़मीन पर काश्त करता है। उसे हमेशा अतिरिक्त अनाज ख़रीदना पड़ता है (अगर उसके पास ख़रीदने के लिए पैसे हों तो), क्योंकि उसकी अपनी फ़सल हमेशा नाकाफ़ी रहती है। एक घोड़ेवाले किसान भी, जिनके 35 लाख परिवार सारे रूस में हैं, कुछ बहुत बेहतर हालत में नही हैं। बेशक अपवाद होते हैं और हमने पहले ही कहा है कि कहीं-कहीं एक घोड़ेवाले किसान ख़ासे मँझोले किसान हैं, यहाँ तक कि धनी भी हैं। पर हम यहाँ अपवादों की, अलग-अलग स्थानों की नहीं, बल्कि सारे रूस की बात करते हैं। अगर हम एक घोड़ेवाले सभी किसानों को लें, तो हम ज़रूर कहेंगे कि वे सब कंगाल हैं। कृषिप्रधान गुबेर्नियाओं में भी एक घोड़ेवाला किसान केवल तीन या चार, कभी-कभार ही पाँच देस्यातीना ज़मीन की खेती करता है। उसकी फ़सल भी नाकाफ़ी होती है। अच्छी फ़सलवाले साल में भी उसका खाना-पीना बिना घोड़ेवाले किसानों से अच्छा नहीं होता, जिसका अर्थ यह है कि वह लगातार आधा पेट खाता है, लगातार भूखा रहता है। उसकी गृहस्थी जर्जर हो रही है, उसके मवेशी मरियल हैं, जिन्हें काफ़ी चारा नहीं मिलता, वह अपनी ज़मीन की ठीक तरह जोताई-बोआई नहीं कर सकता। मिसाल के लिए, वोरोनेज गुबेर्निया में एक घोड़ेवाला किसान अपनी सारी गृहस्थी पर (चारे के ख़र्च को छोड़कर) साल में बीस रूबल से ज़्यादा रक़म ख़र्च नहीं कर पाता! (एक धनी किसान इससे दस गुना ज़्यादा ख़र्च करता है।) बीस रूबल में ज़मीन का लगान, मवेशी की ख़रीदारी, लकड़ी के हल तथा दूसरे औज़ारों की मरम्मत, चरवाहे की मज़दूरी और बाक़ी सब ख़र्चे शामिल हैं। क्या इसे खेतीबारी कहेंगे? यह तो एक बखेड़ा है, क़ैद बा-मशक़्क़त है, मरते दम तक पिसते रहना है। बिल्कुल स्वाभाविक है कि एक घोड़ेवाले कुछ किसान भी – और ऐसे किसानों की संख्या कम नहीं है – अपनी आवंटित ज़मीनें लगान पर उठा दें। कंगाल को ज़मीन से भी कोई लाभ नहीं। उसके पास पैसा नहीं है और खेत से पैसे मिलने की तो बात ही क्या, खाना भी पूरा नहीं पड़ता। लेकिन हर चीज़ के लिए पैसे की ज़रूरत होती है: भोजन-छाजन के लिए, गृहस्थी के लिए और टैक्स अदायगी के लिए। वोरोनेज़ गुबेर्निया में, आम तौर से, एक घोड़ेवाले किसान को हर साल लगभग अठारह रूबल केवल टैक्सों में देने पड़ते हैं और अपना सारा ख़र्च चलाने के लिए वह सालाना 75 रूबल से अधिक नहीं कमा सकता। इन हालात में ज़मीन की ख़रीदारी, नये औज़ार और किसान बैंकों की बातें करना मज़ाक़ नहीं तो क्या है! ये चीज़ें ग़रीबों के लिए बिल्कुल नहीं बनायी गयी हैं।

तब किसान कहाँ से पैसा पाये? उसे "अतिरिक्त कमाई" के लिए काम खोजना पड़ेगा। बिना घोड़ेवाले की तरह एक घोड़ेवाला भी केवल "अतिरिक्त कमाई" की मदद से ही जीवित रहता है। लेकिन "अतिरिक्त कमाई" का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है दूसरे के लिए काम करना, मज़दूरी पर काम करना। इसका अर्थ यह है कि एक घोड़ेवाला किसान अब स्वतन्त्र किसान आधा ही रह गया, वह उजरती गुलाम बन गया, सर्वहारा बन गया। इसीलिए ऐसे किसानों को अर्द्ध-सर्वहारा कहते हैं। वे भी शहर के मज़दूरों के सगे भाई हैं, क्योंकि उन्हें भी सभी प्रकार के मिल्की हर तरह से चूसते हैं। उनके लिए भी सामाजिक-जनवादियों से मिलकर सभी धनियों, सभी सम्पत्तिवालों के ख़िलाफ़ लड़ने के सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है, छुटकारे की कोई और उम्मीद नहीं है। कौन रेलवे लाइनों के निर्माण में काम करता है? किसे ठेकेदार चूसते हैं? कौन जंगल काटता है और लकड़ी को नदियों में तैराता है? कौन खेत-मज़दूरी करता है? या दिहाड़ीदारी करता है? शहरों में और गोदी पर कौन अकुशल मज़दूरों की तरह काम करता है? वे सब गाँव के ग़रीब, बिना घोड़ेवाले या एक घोड़ेवाले किसान ही हैं। वे सब गाँव के सर्वहारा या अर्द्ध-सर्वहारा ही हैं। और रूस में ऐसे लोग कितनी भारी संख्या में पाये जाते हैं! हिसाब लगाया गया है कि काकेशिया और साइबेरिया को छोड़कर सारे रूस में हर साल अस्सी और कभी-कभी नब्बे लाख पासपोर्ट दिये जाते हैं। वे सभी एक स्थान से दूसरे स्थान में काम करने के लिए जाने वाले मज़दूरों के लिए होते हैं। वे सिर्फ़ नाम के लिए किसान हैं; असल में वे उजरती मज़दूर हैं। उन सबको शहरी मज़दूरों के साथ एकताबद्ध होना होगा। देहात में पहुँचने वाली रोशनी और ज्ञान की हर किरण इस एकता को पक्का और मजबूत करेगी। *(ज़ारशाही रूस में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए पासपोर्ट की ज़रूरत पड़ती थी – सं.)*

"अतिरिक्त कमाई" के बारे में एक बात और है, जिसे नहीं भूलना चाहिए। सरकारी अफ़सर और वे सब लोग, जो सरकारी अफ़सरों की ही तरह सोचते हैं, यह कहना पसन्द करते हैं कि किसान को दो चीज़ों की "ज़रूरत" है: ज़मीन की (लेकिन बहुत ज़्यादा नहीं – वह बहुत मिल भी नहीं सकती, क्योंकि धनी सब हड़प चुके हैं!) और "अतिरिक्त कमाई" की। इसलिए, वे कहते हैं, लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए देहात में अधिक उद्योग-धन्धे शुरू करने की ज़रूरत है, जिनसे किसानों के वास्ते "अतिरिक्त कमाई" की साधन "जुटाये" जा सकें। इस तरह की बात बिल्कुल पाखण्ड है। ग़रीबों के लिए अतिरिक्त कमाई का अर्थ है उजरती मज़दूरी। किसानों के लिए "अतिरिक्त कमाई जुटाने" का अर्थ है उन्हें उजरती मज़दूर बनाना। अच्छी सहायता है यह! धनी किसानों के लिए दूसरी ही तरह की "अतिरिक्त कमाई" है, जिसमें पूँजी की ज़रूरत है – जैसे आटे की मिल या किसी दूसरी तरह का कारख़ाना लगाना, अनाज दँवाने की मशीनें ख़रीदना या व्यापार करना, इत्यादि। पैसेवालों की इस "अतिरिक्त कमाई" के साथ ग़रीब की उजरती मज़दूरी को उलझा देना ग़रीबों को धोखा देना है। बेशक इस तरह धोखा देने से धनियों को लाभ पहुँचता है; उन्हें यह दिखाने से लाभ पहुँचता है कि सभी किसानों के लिए हर तरह की "अतिरिक्त कमाई" के दरवाजे खुले हुए हैं और सभी किसान उनसे लाभ उठा सकते हैं। **लेकिन जो असल में ग़रीब की फ़िक्र करता है, वह सच्चाई को नहीं छिपायेगा, बल्कि सारी हक़ीक़त सामने रखेगा।**

पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव में भाजपा की शिकस्त

(पेज 11 से आगे)

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ न तो सरकारों की साज़िश का नतीजा हैं न ही दुनिया के पूँजीपतियों की सनक। ये विश्व पूँजीवाद के विकास के आन्तरिक तर्क से पैदा हुई हैं। ये बाज़ार और मुनाफ़े की व्यवस्था की गतिकी के नियमों से संचालित हो रही हैं। मौजूदा पूँजीवादी ढाँचे के भीतर इनका कोई विकल्प नहीं है। इन नीतियों को केवल एक ही सूरत में उलटा जा सकता है। मौजूदा पूँजीवादी ढाँचे को तहस-नहस करके। बाज़ार और मुनाफ़े पर टिकी समूची पूँजीवादी व्यवस्था को ही नेस्तनाबूद करके। मज़दूरों को इसी राह पर आगे बढ़ने की तैयारी करनी है।

इसकी तैयारी में, क्रान्तिकारी शक्तियों को पूँजीवादी चुनावों के मंच का भी यथासम्भव इस्तेमाल करना होगा। यह सच है कि पूँजीवादी चुनावों के ज़रिये ही व्यापक मेहनतकश आबादी को बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, भूख और ग़रीबी से आज़ादी नहीं मिल सकती है। ऐसा तो उस इंक़लाब के ज़रिये ही सम्भव है, जिसकी बात शहीदे-आज़म भगतसिंह ने की थी और जिस क्रान्ति के फलस्वरूप समूचे उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे पर सच्चे मायने में मज़दूरों-मेहनतकशों का हक़ होगा। लेकिन यह भी सच है कि मौजूदा व्यवस्था की सीमाओं को उजागर करने, इसके जनविरोधी चरित्र का पर्दाफ़ाश करने और क़ानूनसम्मत अधिकारों को भी एक हद तक हासिल करने के लिए मज़दूरों-मेहनतकशों के स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष को चुनावों में पेश करना ज़रूरी है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर होने वाले चुनावों को देखें तो देश के करीब 75 फीसदी औद्योगिक व खेतिहर मज़दूरों तथा ग़रीब किसानों की संसदीय व्यवस्था में कोई नुमाइन्दगी नहीं है। पिछले 70 वर्षों में हम देख चुके हैं कि कांग्रेस, भाजपा, सपा, बसपा, आम आदमी पार्टी, व नकली लाल झण्डे वाली संसदीय वामपंथी पार्टियाँ वास्तव में पूँजीपति वर्ग के ही अलग-अलग हिस्सों की नुमाइन्दगी करती हैं। मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के पास चूँकि कोई विकल्प नहीं होता इसलिए वह कभी इस तो कभी उस चुनावी पूँजीवादी पार्टी को वोट देने को मजबूर हो जाती है। जब लोग कांग्रेस के शासन से ऊब जाते हैं, तो कांग्रेस को उसकी कारगुज़ारियों की सज़ा देने के लिए भाजपा को वोट दे देते हैं और जब भाजपा की पूँजीपरस्त नीतियों से ऊब जाते हैं तो उसे सज़ा देने के लिए कांग्रेस को वोट दे देते हैं। लेकिन इससे मज़दूरों के वर्ग हितों पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता और उन्हें वे हक़ भी नहीं हासिल हो पाते जिनका वायदा पूँजीवादी व्यवस्था में किया जाता है, जैसे कि आठ घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, रोज़गार की गारण्टी, आवास का अधिकार, सबको समान शिक्षा का अधिकार, साफ़-सफ़ाई व साफ़ पीने के पानी का हक़ और हमारे अन्य जनवादी व नागरिक अधिकार। हक़ मिलना तो दूर, देश की विशाल मेहनतकश आबादी के जीवन के ये बुनियादी सवाल राजनीति के मुद्दे भी नहीं बन पाते हैं। इसका एक अहम कारण यह है कि समाज के हर क्षेत्र में मज़दूर वर्ग के स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष की मौजूदगी ही नहीं है।

लेसनर कारख़ाने में हड़ताल और बोल्शेविकों का काम

*प्रसिद्ध पुस्तक 'ज़ार की दूमा में बोल्शेविकों का काम' के कुछ हिस्सों की श्रृंखला में **दूसरी कड़ी** प्रस्तुत है। दूमा रूस की संसद को कहते थे। एक साधारण मज़दूर से दूमा में बोल्शेविक पार्टी के सदस्य बने **ए. बादायेव** द्वारा क़रीब 100 साल पहले लिखी इस किताब से आज भी बहुत–सी चीज़ें सीखी जा सकती हैं। बोल्शेविकों ने अपनी बात लोगों तक पहुँचाने और पूँजीवादी लोकतन्त्र की असलियत का भण्डाफोड़ करने के लिए संसद के मंच का किस तरह से इस्तेमाल किया इसे लेखक ने अपने अनुभवों के ज़रिए बख़ूबी दिखाया है। यहाँ हम जो अंश प्रस्तुत कर रहे हैं उनमें उस वक़्त रूस में जारी मज़दूर संघर्षों का दिलचस्प वर्णन होने के साथ ही श्रम विभाग तथा पूँजीवादी संसद की मालिक–परस्ती का पर्दाफ़ाश किया गया है जिससे यह साफ़ हो जाता है कि मज़दूरों को अपने हक़ पाने के लिए किसी क़ानूनी भ्रम में नहीं रहना चाहिए बल्कि अपनी एकजुटता और संघर्ष पर ही भरोसा करना चाहिए। इसे पढ़ते हुए पाठकों को लगेगा कि मानो इसमें जिन स्थितियों का वर्णन किया गया है वे हज़ारों मील दूर रूस में नहीं बल्कि हमारे आसपास की ही हैं। 'मज़दूर बिगुल' के लिए इस श्रृंखला को **सत्यम** ने तैयार किया है।*

प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पहले के वर्षों में ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं जब पीटर्सबर्ग शहर के मज़दूरों ने अपनी मज़बूत एकजुटता और संगठित ताक़त का परिचय दिया। लेकिन सघन और बहादुराना संघर्षों के इस दौर में लेसनर के कारख़ाने में हुई हड़ताल का ख़ास महत्व था। यह हड़ताल 1913 की पूरी गर्मियों के दौरान चली थी। इस हड़ताल के कारण, इसकी लम्बी अवधि और आम लोगों के बीच इसने जो व्यापक हमदर्दी हासिल की उसने इसे युद्ध से पहले के वर्षों में मज़दूर आन्दोलन की सबसे शानदार घटनाओं में से एक बना दिया।

लेसनर फ़ैक्टरी में हुई हड़ताल को न तो पूरी तरह राजनीतिक कहा जा सकता है और न ही पूरी तरह आर्थिक। यह उन हड़तालों में से एक थी जो क्रान्तिकारी उभार के दौर में होती हैं। मज़दूरों की एकमात्र माँग – उनके एक साथी की मौत के लिए ज़िम्मेदार फ़ोरमैन को हटाने की माँग – पहली नज़र में मामूली लगती थी, लेकिन यह एक ऐसी लम्बी और दृढ़निश्चयी लड़ाई का कारण बन गयी जो केवल उन्हीं स्थितियों में हो सकती है जब मज़दूर वर्ग एक आम और खुली जंग में पूँजीपतियों के आमने-सामने होता है।

हड़ताल के कारण

"न्यू लेसनर" कारख़ाने में हड़ताल इस तरीक़े से शुरू हुई। एक मशीन शॉप के फ़ोरमैन ने स्त्रोंगिन नाम के मज़दूर को चूड़ियाँ काटने के लिए कई सौ स्क्रू नट दिये। काम के दौरान कई नट ग़ायब हो गये; या तो वे अनजाने में कचरे में फेंक दिये गये या ग़लती से किसी दूसरी शॉप में चले गये। स्त्रोंगिन ने फ़ोरमैन को इसकी जानकारी दी तो उसने उसे भद्दी-भद्दी गालियाँ देते हुए धमकी दी कि दो दिन के भीतर नट वापस कर दे नहीं तो "तुझे काम से निकाल दूँगा और तेरे ख़िलाफ़ चोरी की रिपोर्ट दर्ज कराऊँगा"। स्त्रोंगिन न तो वे नट ढूँढ़ सका और न ही ये साबित कर सका कि उसने चोरी नहीं की थी। चोर कहकर काम से निकाले जाने के अपमान की बात सोचकर वह परेशान था। उसने देर तक काम करने की इजाज़त माँगी और उस रात वह कारख़ाने के एक ख़ाली पड़े हिस्से में गया और एक सीढ़ी से लटककर जान दे दी।

उसकी लाश को 23 अप्रैल की सुबह एक वॉचमैन ने देखा और जैसे ही कारख़ाने में इसकी ख़बर फैली, सारे मज़दूर अपना काम छोड़कर अपने मृत साथी के आसपास इकट्ठा हो गये। मज़दूरों ने माँग की मैनेजमेण्ट को तुरन्त मामले की जाँच करनी चाहिए। इसके बजाय, मैनेजमेण्ट ने पुलिस बुला ली जिसकी मौजूदगी में स्त्रोंगिन के कपड़ों की तलाशी ली गयी। उसकी जेब में एक चिट्ठी मिली जिसे पढ़ने के बाद मैनेजर ने छुपाने की कोशिश की। मज़दूरों ने इसका विरोध किया और माँग की कि चिट्ठी सबके सामने पढ़ी जाये। कारख़ाने के अपने साथी मज़दूरों के नाम उस चिट्ठी में लिखा था:

साथियो, पता नहीं मुझे आपको लिखना चाहिए या नहीं। लेकिन फिर भी मैं लिख रहा हूँ... फ़ोरमैन ने मुझ पर चोरी का इल्ज़ाम लगाया है। अपनी जान लेने से पहले मैं आपको बता देना चाहता हूँ साथियो, मैं निर्दोष हूँ। मेरी अन्तरात्मा, मेरा दिल, एक मज़दूर के रूप में मेरी ईमानदारी इसके गवाह हैं, लेकिन मैं इसे साबित नहीं कर सकता। इस कारख़ाने से मुझे फ़ोरमैन द्वारा चोर कहकर निकाला जाये, ये मैं नहीं सह सकता, इसलिए मैंने सबकुछ ख़त्म करने का फ़ैसला किया है... अलविदा, प्यारे साथियो और याद रखना – मैं बेगुनाह हूँ। – याकोव स्त्रोंगिन

मज़दूरों की भीड़ कई मिनट तक चुपचाप खड़ी रही। मैनेजमेण्ट की धमकियों से मौत के मुँह में धकेल दिये गये अपने एक साथी के अन्तिम शब्दों ने उन्हें स्तब्ध कर दिया था। फिर कुछ आवाज़ें सुनायी दीं: "टोपियाँ उतार लो, भाइयो," और एक क्रान्तिकारी शोक गान समवेत स्वरों में गाया गया। जब स्त्रोंगिन की मौत का ज़िम्मेदार फ़ोरमैन वहाँ आया तो उसे "ग़द्दार", "हत्यारा" और "जल्लाद" कहकर पुकारा गया। मज़दूरों ने कहा, "ताबूत के पीछे-पीछे चलो और दोबारा कारख़ाने में दिखायी नहीं देना।" सारे मज़दूर शव के साथ मुर्दाघर तक गये।

अगली सुबह काम पर आने पर उन्होंने देखा कि फ़ोरमैन वहाँ मौजूद है। जब मैनेजर ने जवाब दिया कि बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स ने उसे हटाने से इंकार कर दिया है तो मज़दूरों ने फ़ौरन तब तक हड़ताल करने का फ़ैसला किया जब तक उस हत्यारे को कारख़ाने से हटाया नहीं जाता। फ़ैक्टरी बन्द हो गयी और "न्यू लेसनर" में काम करने वाले सभी मज़दूर यह सोचकर घर चले गये कि जब तक उनकी माँग नहीं मानी जायेगी तब तक वापस नहीं आयेंगे।

स्त्रोंगिन की अन्त्येष्टि

स्त्रोंगिन की अन्त्येष्टि पर एक विशाल प्रदर्शन हुआ। जैसाकि ऐसे मामलों में आम तौर पर होता है, पुलिस और मालिकों ने लोगों को इकट्ठा होने से रोकने की हरचन्द कोशिशें कीं। अन्त्येष्टि का दिन और समय आख़िरी समय तक गुप्त रखने की कोशिश की गयी; लेकिन एक दिन पहले 'प्राव्दा' (मज़दूर अख़बार) को इसका पता चल गया। 'छपते-छपते' कॉलम में इसकी घोषणा छापी गयी, लेकिन चूँकि मज़दूरों के काम शुरू करने से पहले तक अख़बार उनके पास नहीं पहुँच सका था, इसलिए कुछ ही मज़दूरों को पता चल पाया कि अन्त्येष्टि सुबह 9 बजे होने वाली है। फिर भी उस समय तक 1,000 से ज़्यादा लोग मुर्दाघर पर इकट्ठा हो चुके थे। न्यू लेसनर के मज़दूर वहाँ पूरी तादाद में थे, और दूसरे कारख़ानों के प्रतिनिधि भी थे। जल्दी-जल्दी तैयार करके फूलमालाएँ लायी गयी थीं, और उनके पास श्रद्धांजलि पत्र छपाने का समय नहीं था तो काले रिबन पर खड़िया से और सफ़ेद रिबन पर कोयले से श्रद्धांजलि सन्देश लिखे गये थे। इनमें से कुछ रिबन पुलिस ने काट दिये क्योंकि उन पर क्रान्तिकारी सन्देश लिखे थे। हज़ारों लोग स्त्रोंगिन की शवयात्रा के साथ कब्रिस्तान के प्रवेशद्वार तक गये। वहाँ घुड़सवार पुलिस ने जुलूस को रोक दिया और सिर्फ़ ताबूत और कुछ नज़दीकी रिश्तेदारों को ही अन्दर जाने दिया।...

लेसनर कारख़ाने में मज़दूरों का संघर्ष

हड़ताल के जवाब में, मैनेजमेण्ट ने सभी पुराने मज़दूरों को बर्ख़ास्त करने की घोषणा कर दी। साथ ही, पूँजीवादी अख़बारों में फ़ैक्टरी में काम का आवेदन मँगाने के लिए विज्ञापन छापे जाने लगे। लेकिन हड़ताली मज़दूर दृढ़ बने रहे और हड़ताल तोड़ने के लिए की गयी इन घोषणाओं का कोई असर नहीं हुआ। मज़दूर बहुत अच्छी तरह संगठित थे। लेकिन वे जान गये कि अकेले-अकेले वे लम्बे समय तक नहीं टिके रह पायेंगे, और उन्होंने सेंट पीटर्सबर्ग के तमाम मज़दूरों से इस संघर्ष में उनका साथ देने की अपील की।

थोड़े ही समय बाद, लेसनर के दूसरे कारख़ाने "ओल्ड लेसनर" के मज़दूर अपने हड़ताली साथियों के समर्थन में आ गये। अब दोनों लेसनर कारख़ाने बन्द पड़े थे। मैनेजमेण्ट "ओल्ड" कारख़ाने के बहाने से "न्यू लेसनर" के लिए मज़दूरों की भरती नहीं कर सकता था। वह बकाया ऑर्डरों को एक हद तक भी पूरा नहीं कर सकता था। काण्ट्रैक्ट पूरा न करने पर अक्सर जुर्माना भरना पड़ता था, इसलिए मालिकों को ख़ासा नुक़सान होता दिख रहा था।

फिर मैनेजमेण्ट ने डिज़ाइन, नक्शे और अधूरे माल दूसरे कारख़ानों में भेजकर अपने ऑर्डर पूरे कराने की कोशिश की। इसे छुपाने की तिकड़मों के बावजूद हड़तालियों को जल्दी ही इसका पता चल गया। उन्होंने पीटर्सबर्ग के सभी धातु मज़दूरों से ऐसे किसी भी काम को न करने की अपील की। दूसरे मज़दूरों ने एक आवाज़ में इसका समर्थन किया और लेसनर का कोई भी काम दूसरे कारख़ानों में पूरा नहीं हो पाया।

मज़दूरों की एकजुटता

ऐसे हर समर्थन, दूसरी फ़ैक्टरियों से मिले हर सन्देश से हड़ताली मज़दूरों का उत्साह बढ़ता था और जीत की उम्मीद पक्की हो जाती थी। हड़ताल कोष में मज़दूर जिस तरह बढ़चढ़ कर और नियमित रूप से योगदान कर रहे थे वैसा पहले नहीं देखा गया था। कई जगहों पर सिर्फ़ एक ही बार चन्दा नहीं इकट्ठा किया गया, बल्कि मज़दूर नियमित रूप से अपनी मज़दूरी का एक हिस्सा देते थे। एक कारख़ाने में इस शर्त पर ओवरटाइम करने की मंज़ूरी दी गयी कि आधे दिन की मज़दूरी लेसनर फण्ड में दी जायेगी। इस फ़ैक्टरी के परिवार वाले मज़दूरों ने यह भी प्रस्ताव किया कि लेसनर के जो मज़दूर ज़्यादा मुश्किल में हैं उनके बच्चे उनके घरों पर खाना खा सकते हैं।

हड़ताल के दौरान 18,000 रूबल इकट्ठा हुए – यह किसी भी हड़ताल में इकट्ठा सबसे बड़ी रक़म थी। सारा पैसा पहले दूमा धड़े को भेजा जाता था, जो हड़तालियों की ज़रूरतों के अनुसार इसके बँटवारे की व्यवस्था करता था। यह हड़ताल पूरे रूस में मशहूर हो गयी और हमारे पास दूर-दराज़ के शहरों से भी सहयोग के पैसे आने लगे। मैं कोष का इंचार्ज था और सारी सहयोग राशियों का पूरा ब्यौरा 'प्राव्दा' में प्रकाशित करता था।

लेसनर के कारख़ानों का संघर्ष 1913 के मज़दूर आन्दोलन की सबसे ज़ोरदार घटना थी। पार्टी इससे क़रीबी से जुड़ी हुई थी। वह हर तरह से हड़तालियों की मदद कर रही थी और हड़ताल के बारे में जानकारी को ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों के बीच प्रचार-प्रसार करती थी। 'प्राव्दा' संघर्ष के बारे में रोज़ाना रिपोर्टें प्रकाशित करता था और दूसरे मज़दूरों के नाम हड़तालियों की अपीलें और उनकी चिट्ठियाँ आदि छापता था।

तीन महीने तक जारी संघर्ष

पूरी गर्मियों के दौरान हड़ताल जारी रही। जून की शुरुआत में पुलिस ने नेताओं को गिरफ़्तार करना शुरू कर दिया। उन्हें उम्मीद थी कि इस तरह से वे मज़दूरों के प्रतिरोध को तोड़ देंगे। गिरफ़्तार लोगों में से कई को सेंट पीटर्सबर्ग से बाहर भेज दिया गया और 52 स्थानों में रहने की मनाही कर दी गयी। दूसरी तरफ़ मैनेजमेण्ट ने मज़दूरों के घरों पर चिट्ठियाँ भेजकर उन्हें "पुरानी शर्तों" पर काम करने के लिए आमन्त्रित किया। लेकिन मज़दूर डटे रहे।

आख़िरकार, अड़सठ दिनों के बाद "ओल्ड लेसनर" के मज़दूर काम पर लौट गये। "न्यू लेसनर" में हड़ताल दो हफ़्ते तक और जारी रही। कुल मिलाकर मज़दूर 102 दिनों तक बाहर रहे थे जो उस समय तक अभूतपूर्व था। हालाँकि उसका अन्त हार के साथ हुआ था, लेकिन मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में इस हड़ताल का ज़बर्दस्त महत्व था। इसने मज़दूर वर्ग के नये हिस्सों को समेटा और प्रेरित किया और सर्वहारा की संगठित एकजुटता की ताक़त को अमल में लाकर दिखा दिया।

जिस दौरान लेसनर के मज़दूर बाहर थे, उसी समय दूसरी हड़तालें भी चल रही थीं और उन्हें मज़दूरों का समर्थन मिल रहा था। गर्मियों के महीनों में आम तौर पर हड़ताल आन्दोलन तेज़ हो जाता था। सर्दी के महीनों के मुकाबले गर्मियों में कारख़ानों में छोटी सभाएँ करना ज़्यादा सुविधाजनक होता था और ग़ैरक़ानूनी बैठकें करना (जो आम तौर पर शहर के बाहर के जंगलों में होती थीं) आसान होता था।

आन्दोलन के फैलने के साथ ही, जनसाधारण के साथ हमारे फ्रैक्शन के रिश्ते और घनिष्ठ हो गये। गर्मियों में दूमा के अवकाश के दौरान, अन्य छुट्टियों की ही तरह, प्रतिनिधि अपने-अपने इलाक़ों में लौट गये और सेंट पीटर्सबर्ग में मैं अकेला रह गया। उस समय मुझे वह सारा काम करना पड़ता था जो आम तौर पर हम छह प्रतिनिधियों के बीच बँटा रहता था।

मज़दूर मेरे पास तमाम तरह के सवाल लेकर आते रहते थे, ख़ासकर मज़दूरी मिलने वाले दिन जब हड़ताली मज़दूरों की मदद के लिए पैसे लाये जाते थे। सहयोग की राशि लेकर आने वाला हर मज़दूर बहुत से सवाल पूछता था। मुझे "ग़ैरक़ानूनी" हो जाने वाले लोगों के लिए पासपोर्ट और छिपने की जगहों का इन्तज़ाम करना पड़ता था, हड़तालों के दौरान निकाल दिये गये मज़दूरों के लिए काम ढूँढ़ने में मदद करनी पड़ती थी, गिरफ़्तार मज़दूरों की ओर से मन्त्रियों को अर्ज़ी देनी पड़ती थी, निर्वासित कार्यकर्ताओं के लिए मदद का इन्तज़ाम करना पड़ता था, आदि। जहाँ ऐसा लगता था कि हड़ताल कमज़ोर पड़ रही है, वहाँ हड़तालियों में जोश भरने के लिए क़दम उठाने, ज़रूरी मदद मुहैया कराने और पर्चे छपाकर भेजने की ज़रूरत पड़ती थी। इसके अलावा, मुझसे लगातार निजी मामलों में सलाह-मशविरा करने के लिए मज़दूर आते रहते थे।

छोटी से छोटी भी कोई ऐसी फ़ैक्टरी

(पेज 15 पर जारी)

महेश्वर की कविता

वे

वे
जब विकास की बात करते हैं
तबाही के दरवाज़े पर
बजने लगती है शहनाई
वे
कहते हैं – एकजुटता
और गाँव के सीवान से
मुल्क की सरहदों तक
उग आते हैं काँटेदार बाड़े
वे
छुपाने के उस्ताद हैं
मगर खोलने की बात करते हैं
वे
मिटा देते हैं फ़र्क
गुमनाम हत्याओं और
राजनीतिक प्रक्रियाओं
के बीच
उनके लिए
धर्म एक धन्धा है और सहिष्णुता – हथकंडा
वे
राशन-दुकान की लम्बी लाइन में चिपके
आदमी के हाथ
बेच देते हैं
आदमी के सबसे हसीन सपने
और कहते हैं
कि दुनिया बदल रही है – धीरे-धीरे
वे
बदलाव के गीत गाते हैं
और
अच्छे भरे-पूरे दिन
रातों-रात बन जाते हैं
टूटी दीवारों पर फड़फड़ाते इश्तिहार
वे
चाहें तो सूरज को पिघला कर
बना दें – निरा पानी
वे चाहें तो चाँद के धब्बे
हो जायें – और गहरे
वे
चाहें तो तारों को बना दें डॉलर
और ख़रीद लें दुबारा
अपनी बेची हुई अस्मिता
अपनी चाहत में वे हैं –
सर्वशक्तिमान
मगर उनका ज़ोर चलता है
कमज़ोरों पर –
यानी, उस पर
जो ऐन वक़्त पर
आदमी होने के बजाय
साबित होते हैं –
भेड़िए के मुँह में मेमना!

लेसनर कारख़ाने में हड़ताल और बोल्शेविकों का काम

(पेज 14 से आगे)

नहीं थी जिससे मैं किसी न किसी तरीक़े से नहीं जुड़ा था। अक्सर मुझसे मिलने आने वाले इतने ज़्यादा होते थे कि मेरा घर छोटा पड़ जाता था और उन्हें सीढ़ियों पर कतार में इन्तज़ार करना पड़ता था। संघर्ष में हर अगला चरण, हर नयी हड़ताल के साथ ये कतारें बढ़ जाती थीं जो मज़दूरों और पार्टी फ्रैक्शन के बीच बढ़ती एकजुटता को दिखाती थीं और साथ ही जनता की संगठनबद्धता को विकसित करती थीं।

रेलवे रिपेयर शेड में संघर्ष

1913 के वसन्त में, उस रेल इंजन मरम्मत कारख़ाने में एक विवाद उठ खड़ा हुआ जहाँ मैं प्रतिनिधि बनने से पहले काम करता था। इस घटना से जनता के ठोस संगठन और एकता का पता चलता था। दूमा के प्रतिनिधियों के चुनाव के समय मज़दूरों ने एकमत से चुनाव किया था, और उनका जोश और आत्म-निर्भरता बढ़ गयी थी। और जब उनमें से एक मज़दूर सेंट पीटर्सबर्ग का प्रतिनिधि चुन लिया गया, तो क्रान्तिकारी भावनाओं का और फैलाव हुआ।

ख़ुफ़िया पुलिस कारख़ानों में होने वाली गतिविधियों पर बहुत ध्यान दे रही थी और मौक़ा पाते ही मज़दूरों का उत्साह ठण्डा कर देना चाहती थी। कार्रवाई के लिए 13 फ़रवरी को रोमानोव वंश की त्रिशताब्दी समारोह का समय चुना गया था। कुछ समय पहले से पुलिस सभी कारख़ानों में धरपकड़ करने में जुटी हुई थी, ताकि तमाम सक्रिय मज़दूरों को 'हटाया' जा सके जिससे समारोह के दौरान कोई क्रान्तिकारी प्रदर्शन न हो पाये। गिरफ़्तारियाँ और बर्ख़ास्तगियाँ टुकड़ों में की जा रही थीं। एक-एक करके सारे सन्दिग्धों को हटा दिया गया।

13 फ़रवरी के पहले वाली रात को कई रेलवे मज़दूर गिरफ़्तार कर लिये गये। उनकी गिरफ़्तारी जिस वजह से की गयी थी, वह मौक़ा बीत जाने के बाद उन्हें रिहा कर दिया गया लेकिन काम पर वापस नहीं लिया गया। जनरल मैनेजर ने उनसे कहा, "मेरे पास अर्ज़ी भेजो। हम पुलिस से सलाह करके तय करेंगे कि तुम्हें लिया जा सकता है या नहीं।"

शॉप के मज़दूर छूटे मज़दूरों को बहाल करने पर अड़ गये। मैनेजर ने उन्हें डराने की कोशिश की: "तुम लोग क्रान्तिकारी माँगें उठा रहे हो। भूलो मत कि तुम भी ज़िम्मेदार ठहराये जाओगे। मज़दूरों को भड़काओ नहीं।"

इस रवैये से नाराज़ सारे मज़दूर एक शॉप में इकट्ठा हुए और स्थिति परद चर्चा करने के बाद उन्होंने माँग की कि उनके साथियों को बहाल किया जाये। माँग पूरे दृढ़ निश्चय के साथ की गयी थी: सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला, तो तुरन्त हड़ताल की घोषणा की जायेगी।

कारख़ाने के मैनेजमेण्ट ने टालने के लिए कहा कि उसे मामले पर विचार करने के लिए समय दिया जाये। लेकिन इकट्ठा मज़दूरों ने इसका जवाब हिकारत से दिया। "तुम्हारे पास दस्तावेज़ों पर विचार करने के लिए पूरे हफ़्ते का समय था"; "उनको फ़ौरन बहाल करो"; "जब तक हमारे पाँचों साथी बहाल नहीं होंगे हम यहाँ से नहीं हटेंगे।"

मज़दूरों के दृढ़ रवैये का असर हुआ। ऐसी एकजुटता का सामना होने पर, मैनेजमेण्ट को पीछे हटना पड़ा। जनरल मैनेजर ने घोषणा की कि भोजनावकाश के बाद पाँचों मज़दूरों को अपने काम पर लौटने दिया जायेगा। यह घटना एकजुटता की ताक़त दर्शाती थी और मुझे लगा कि इसका लोगों के बीच व्यापक प्रचार होना चाहिए। इसलिए मैंने रेलवे रिपेयर शॉपों के मज़दूरों के नाम निम्नलिखित अपील 'प्राव्दा' में प्रकाशित की:

प्रिय साथियो, मैं 4 मार्च को आपकी कामयाब एकजुट कार्रवाई के लिए आपको बधाई देता हूँ, जब आपने साहस के साथ अपने पाँच साथियों की रोज़ी-रोटी छीने जाने से रोक दिया और उनकी बहाली की माँग की। मज़दूरों के हालात हर जगह बहुत कठिन हैं, लेकिन निकोलाइयेव्स्काया रेलवे के रिपेयर शॉपों में तो उनकी हालत बहुत ही बुरी है। दूमा के लिए चुने जाने से पहले, मैंने कई साल तक इन शॉपों में काम किया है और मैं व्यक्तिगत रूप से मैनेजमेण्ट के उत्पीड़क क़दमों के बारे में जानता हूँ। बुरा बर्ताव, बिना नोटिस या कारण बताये निकाल देना, आदि। लगता है कि नया मैनेजर पुराने वाले के ही नक्शे-क़दम पर चल रहा है और शायद उससे भी ज़्यादा तानाशाह है। कई प्राइवेट कारख़ानों के मुक़ाबले रेलवे में हालात ज़्यादा ख़राब हैं। कोई सोच सकता है कि सरकारी उपक्रमों में, जो बाज़ार के उतार-चढ़ावों पर कम निर्भर रहते हैं, काम के हालात प्राइवेट कम्पनियों के मुक़ाबले बेहतर होंगे। उन्हें तकनीकी उपकरणों और मज़दूरों के साथ बर्ताव के मामले में मॉडल की तरह होना चाहिए। सरकारी कारख़ानों में मज़दूरों के काम के घण्टे कम होने चाहिए, मज़दूरी बेहतर होनी चाहिए और बेवजह काम से नहीं निकाले जाने का आश्वासन होना चाहिए।

लेकिन सरकारी रेलवे वर्कशॉपों में हम क्या देखते हैं? ओवरटाइम के कारण काम का सामान्य दिन 9 के बजाय 12 घण्टे का होता है। इतने घण्टे काम के बदले मज़दूरी भी इतनी कम मिलती है जो मुश्किल से गुज़ारे के लायक़ होती है।

इन वर्कशॉपों से आये हुए प्रतिनिधि के रूप में, आपकी कार्रवाई से मुझे ख़ास ख़ुशी हुई है। अपनी एकजुटता और दृढ़ता से आपने मैनेजमेण्ट को शिकस्त दी और अपने साथियों की आजीविका बचाने में सफल रहे। याद रखो, साथियो, एकता और वर्गीय चेतना हमारी ताक़त है और सिर्फ़ एकजुट, वर्ग-सचेत कार्रवाई से ही हम अपनी हालत में सुधार ला सकते हैं।

शहर के गवर्नर के आदेश से मेरी यह अपील छापने के लिए अख़बार पर 500 रूबल का जुर्माना लगा दिया गया। हालाँकि हम जानते थे कि इसके कारण जुर्माना लगाया जा सकता है या ज़ब्ती भी हो सकती है और 'प्राव्दा' की माली हालत क़तई अच्छी नहीं थी, फिर भी हमने जोखिम उठाने का फ़ैसला किया था। रेलवे रिपेयर शॉपों के मज़दूरों के नाम अपील दरअसल पूरे मज़दूर वर्ग के नाम एक ऐलान था और उसे ज़्यादा से ज़्यादा वितरित किया जाना था। "अण्डरग्राउण्ड" प्रेस से छपे पर्चे के रूप में छपे होने के मुक़ाबले 'प्राव्दा' में छपे होने पर यह कहीं ज़्यादा कारगर होती।

अपील का वही असर हुआ जिसका हमें अनुमान था – इसने मज़दूरों के संकल्प को और मज़बूत बनाया। कुछ समय तक मज़दूरों की कामयाबी और उनकी क्रान्तिकारी भावना ने ख़ुफ़िया पुलिस को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। हालाँकि बाद में पुलिस ने फिर से छापा मारने का फ़ैसला कर लिया।

ईस्टर की छुट्टियों के बाद की पहली सुबह (अप्रैल 1913 में), पुलिस की कई टुकड़ियाँ कारख़ाने पर पहुँच गयीं। हर शॉप में कई आदमी तैनात कर दिये गये और मज़दूर एक शॉप से दूसरी शॉप में तब तक नहीं जा सकते थे जब तक काम के लिए ज़रूरी न हो और तब भी उन्हें पहरे में जाना होता था।

इन तैयारियों के बाद चार पहले से चुने हुए मज़दूरों को बताया गया कि वे बर्ख़ास्त कर दिये गये हैं। कॉमरेड मेल्निकोव को फिर से इनमें शामिल किया गया था जो अभी-अभी मेटल वर्कर्स यूनियन की कार्यकारिणी के सदस्य चुने गये थे। बर्ख़ास्त मज़दूरों ने माँग की कि उन्हें हटाये जाने का कारण बताया जाये, लेकिन पुलिस ने उन्हें जनरल मैनेजर के पास जाने से रोक दिया। बाद में मैनेजमेण्ट ने शॉप के प्रतिनिधियों को बताया कि ख़ुफ़िया के कहने पर उन मज़दूरों को निकाला गया है। उसके बाद निकाले गये चार मज़दूरों को गिरफ़्तार करके सेंट पीटर्सबर्ग से बाहर भेज दिया गया और "52 जगहों", यानी रूस के किसी भी महत्वपूर्ण शहर में रहने से मनाही कर दी गयी।

उसी दिन मज़दूर भागे हुए मेरे पास यह अनुरोध लेकर आये कि मैं अधिकारियों के पास इस कार्रवाई का विरोध करते हुए पत्र भेजूँ। ज़ाहिर था कि किसी याचिका या विरोध पत्र से कुछ नहीं होगा। पाँच मज़दूरों पर अपने पहले हमले की नाकामी से बौखलायी ख़ुफ़िया पुलिस इस बार अपने शिकारों को कठोर सज़ा देने पर आमादा थी।

मैंने 'प्राव्दा' में एक और अपील प्रकाशित करके मज़दूरों से कहा कि इस नये हमले के जवाब में वे पार्टी के साथ एकजुट हों और अपने संगठन को मज़बूत बनायें। बेशक, इसे खुले तौर पर नहीं कहा जा सकता था और मैंने अपनी अपील ऐसी शब्दावली में लिखी थी कि सभी वर्ग-सचेत मज़दूर उसे समझ जायें:

मज़दूर मुझसे अनुरोध करते हैं कि मैं इन बर्बर तरीक़ों की ओर अधिकारियों का ध्यान दिलाऊँ। ठीक है, मैं मन्त्री के पास जाऊँगा। लेकिन साथियो, मुझे यह कहना होगा कि इसका कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होगा। हम सबको अपनी स्थिति पर विचार करना चाहिए, हमारे मज़दूर अख़बार को और नियमित रूप से पढ़ना चाहिए और यह जानना चाहिए कि तमाम दूसरे मज़दूर अपनी हालत में बदलाव लाने के लिए कैसे लड़ रहे हैं।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

रिज़र्व बैंक और सरकार का टकराव और अर्थव्यवस्था की बिगड़ती हालत

भारत की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अति-उत्पादन और घटती मुनाफ़ा दर के भँवर में गहरे तक फँस चुकी है

- मुकेश असीम

आखिर 10 दिसम्बर को रिज़र्व बैंक के गवर्नर ऊर्जित पटेल के इस्तीफ़े और 11 दिसम्बर को सरकार द्वारा वित्त मन्त्रालय में पूर्व सचिव तथा नोटबन्दी में मुख्य भूमिका निभाने वाले शक्तिकान्त दास को नया गवर्नर नियुक्त कर देने से सरकार और रिज़र्व बैंक के बीच अर्थव्यवस्था के संकट से निपटने के तरीक़ों पर टकराव का वह एकमात्र समाधान हो गया जो मौजूदा व्यवस्था में मुमकिन था। यह मुद्दा तब चर्चा में आया था जब 25 अक्टूबर को रिज़र्व बैंक के डिप्टी गवर्नर विरल आचार्या ने एक भाषण में कह दिया कि केन्द्रीय बैंक की स्वायत्तता का सम्मान न करने वाली सरकारें देर-सबेर वित्तीय बाज़ारों के गुस्से का शिकार होती हैं, अर्थव्यवस्था के तले अग्नि प्रज्वलित करती हैं और एक अहम नियामक निकाय को कमज़ोर करने के लिए एक दिन पश्चात्ताप करने को मजबूर होती हैं। इसके जवाब में वित्त मन्त्री अरुण जेटली ने भी रिज़र्व बैंक पर तीखा हमला किया और उस पर खुले हाथ क़र्ज़ बाँटकर बरबाद होती बैंकिंग व्यवस्था की ओर से आँखें बन्द करने का आरोप लगाया। यह भी सामने आया कि वित्त मन्त्रालय तीन पत्र लिखकर रिज़र्व बैंक क़ानून की धारा 7 प्रयोग कर रिज़र्व बैंक को निर्देश देने के अपने अधिकार के इस्तेमाल की धमकी दे चुका है। इससे ही ख़बरें आने लगी थीं कि सरकार ऊर्जित पटेल को बर्ख़ास्त कर सकती है या वे ख़ुद ही इस्तीफ़ा दे सकते हैं। ग़ौरतलब है कि अब तक किसी सरकार ने इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया था। स्पष्ट है कि इससे पहले पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्विरोध कभी इतने सघन एवं तीव्र नहीं हुए थे कि सत्ता के विभिन्न अंगों में टकराव इस हद तक बढ़ जाये।

नये गवर्नर की नियुक्ति के तुरन्त बाद आने वाले पहले बयान ही विवाद की वजह के बारे में काफ़ी कुछ संकेत दे देते हैं। उद्योगपतियों की प्रमुख संस्था कन्फ़ेड्रेशन ऑफ़ इण्डियन इण्डस्ट्री ने नये गवर्नर की नियुक्ति को 'उद्योगों के मनोबल में भारी वृद्धि' बताते हुए भरोसा जताया है कि वे 'अर्थव्यवस्था में नक़दी की कमी दूर करने के लिए फ़ौरी क़दम उठायेंगे।' अन्य कई विश्लेषकों का कहना है कि वे बैंकों के लिए नियमों में ढील देंगे तथा पूँजी की लागत कम करने तथा नक़दी का प्रवाह बढ़ाने के लिए ब्याज दरें कम करेंगे। फिर भी पूँजीवादी व्यवस्था के दो अंगों के बीच यह टकराव इतना उग्र क्यों हुआ, इसके लिए हमें इसमें शामिल मुद्दों को समझना ज़रूरी है।

यह बात तो अब बुर्जुआ मीडिया के लिए भी छिपानी नामुमकिन होती जा रही है कि भारत की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अति-उत्पादन और घटती मुनाफ़ा दर के भँवर में गहरे तक फँस चुकी है। इसका ही असर है कि न सिर्फ़ वित्तीय बाज़ार में भुगतान और ऋण के लिए नक़दी का संकट है बल्कि ख़ुद सरकार की वित्तीय स्थिति संकट में है। एक ओर आम मेहनतकश जनता व मध्य वर्ग पर करों का बोझ बढ़ाते जाने लेकिन पूँजीपतियों से टैक्स वसूली में कमी, दूसरी ओर अनुत्पादक प्रशासनिक ख़र्च फ़ौज-हथियारों पर ख़र्च व पूँजीपतियों को तरह-तरह की छूटों में भारी वृद्धि से पूरे साल के बजट में जितने वित्तीय घाटे (6.24 लाख करोड़ रुपये) का अनुमान था, वर्ष के पहले 7 महीनों में ही उसका 104% घाटा (6.48 लाख करोड़) हो चुका है। वजह - चुनावी साल में ख़र्च तो बढ़ा है, पर टैक्स वसूली अनुमान से बहुत कम है। टैक्स आय 7 महीने में सालाना अनुमान की सिर्फ़ 44% है। वह तो सार्वजनिक क्षेत्र की सम्पत्ति की बिक्री से ग़ैर टैक्स आय अनुमान के 52% तक हो गयी है अन्यथा हालात और भी बदतर होते। स्थिति यह है कि अक्टूबर 18 में सरकारी आय अक्टूबर 17 से भी कम हो गयी है। ये भी ख़बरें मीडिया में आयी हैं कि आयकर व जीएसटी के रिफ़ण्ड को भी रोका जा रहा है ताकि इस वर्ष वित्तीय स्थिति को सँभाला जा सके।

ठीक आम चुनाव के पहले जब ज़्यादा ख़र्च की ज़रूरत पड़ने वाली है तब सरकार की हालत यह है कि हर मुमकिन जगह से रक़म का इन्तज़ाम करने में पसीने छूटे जा रहे हैं। ओएनजीसी, आदि सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों-बैंकों के पास जो रिज़र्व थे, वे पहले ही क़ब्ज़ा लिये गये हैं या कॉर्पोरेट ऋण माफ़ी में चुक गये। अब रिज़र्व बैंक का नम्बर है - उसके पास जो रिज़र्व कोष है उसमें से एक बड़ा हिस्सा अन्तरिम लाभांश के रूप में देने को कहा गया है। हालत यहाँ तक पहुँची कि चुपचाप हुक्म बजाने वाले ऊर्जित पटेल का धैर्य भी जवाब दे गया क्योंकि उसका पूँजीवादी मौद्रिक अर्थशास्त्र भी कह रहा है कि इसके बाद संकट की रोकथाम के लिए कुछ बचेगा नहीं। यह असन्तोष ही आरबीआई के मौजूदा/भूतपूर्व प्रबन्धकों के बयानों के रूप में खुल कर बाहर आ गया। यहाँ तक कि नवउदारवादी नीतियों के हिमायती बुर्जुआ आर्थिक विशेषज्ञों का एक हिस्सा भी संकट के आकार-प्रकार तथा उससे निपटने के मोदी सरकार के नग्न लूट वाले रवैये से भौंचक्का रह गया है। यही असन्तोष आरबीआई के डिप्टी गवर्नर विरल आचार्य के 25 अक्टूबर वाले बयान में सामने आया।

प्रथम मुद्दा तो लगभग ढाई लाख करोड़ के क़र्ज़ वाले विद्युत उत्पादन संयन्त्रों का था जो अपने बैंक क़र्ज़ वापस नहीं कर पा रहे हैं, मगर इन क़र्ज़ों को अभी तक भी बैंकों ने औपचारिक रूप से एनपीए घोषित नहीं किया है। 12 फ़रवरी के रिज़र्व बैंक के सर्कुलर के अनुसार 6 महीने में क़र्ज़ वसूली नियमित न होने पर इन्हें एनपीए घोषित कर बैंकों को इनके खिलाफ़ दिवालिया क़ानून के प्रावधानों के अन्तर्गत कार्रवाई करनी थी। मगर सरकार ऐसा नहीं चाहती थी बल्कि उल्टे वित्त मन्त्रालय के निर्देशानुसार ख़ुद एसबीआई ने सुप्रीम कोर्ट को कहा है कि वह इन क़र्ज़ों का एक हिस्सा (अदानी, टाटा और एस्सार के क़र्ज़ इसमें शामिल हैं) माफ़ करने को तैयार है।

दूसरा मुद्दा, बुरी तरह संकट में घिरे 11 सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का था जिनके पास पूँजी की सख़्त कमी है जिसके चलते रिज़र्व बैंक ने उन पर नये क़र्ज़ देने पर रोक लगा दी है। इस रोक को हटवाकर इन बैंकों द्वारा लघु उद्योग क्षेत्र को ऋण दिलवाना सरकार की मंशा है। रिज़र्व बैंक के सामने समस्या है कि सरमायेदारों की लूट के बाद सार्वजनिक बैंकों की ऐसी हालत ही नहीं बची है जो वे ज़्यादा क़र्ज़ दे सकें। लेकिन नोटबन्दी, जीएसटी के असर से अर्थव्यवस्था में इजारेदारी बढ़ने से लघु-मध्यम कारोबार पर जो गहरी चोट पड़ी है उससे संघ के पुराने वफ़ादार टटपुँजिया तबक़े में बेचैनी है। मुद्रा स्कीम के जुमले से इन्हें लुभाया नहीं जा सका है। ठीक चुनाव से पहले इन्हें ख़ुश करने के लिए बीजेपी लघु-मध्यम कारोबारियों को बैंक ऋण की शर्तों में ढील देना चाहती है।

तीसरा मसला यह है कि बैंकों से ग़ैर-बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों तक पूरे वित्तीय क्षेत्र में ऋण व नक़दी का घोर संकट जारी है। उससे निपटने के लिए सरकार व रिज़र्व बैंक दोनों लाखों करोड़ रुपये की नक़दी उपलब्ध करा रहे हैं, पर संकट है कि बढ़ता जाता है। संकट के समाधान के उपायों पर मोदी-जेटली का कांग्रेस नियुक्त रघुराम राजन ही नहीं अपनी चहेती नियुक्ति वाले पनगढ़िया, अरविन्द सुब्रमनियम के बाद अब ऊर्जित पटेल/विरल आचार्य से भी टकराव व मनमुटाव हो चुका है, पर इलाज़ का उपाय नहीं मिला। क्योंकि पूँजीवाद में संकट की वजह नक़दी, ऋण व मुद्रा की कमी नहीं है। ये तो संकट का लक्षण तथा नतीजा हैं। संकट की वजह तो पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में है जहाँ प्रत्येक पूँजीपति अधिक मुनाफ़े के लिए अचर या स्थिर पूँजी - मशीनों/तकनीक - में अधिकाधिक निवेश कर कम चर पूँजी या श्रम शक्ति के प्रयोग से अधिकाधिक उत्पादन करने का प्रयास करता है। इसके लिए पूँजी भारी मात्रा में वित्तीय क्षेत्र से ऋण लेकर एकत्र की जाती है। लेकिन बढ़ती अचर पूँजी पर मुनाफ़ा पाने के लिए बिक्री भी उसी अनुपात में बढ़नी चाहिए। पर सभी पूँजीपतियों के ऐसा करने पर सबकी बिक्री बढ़ना मुमकिन नहीं होता क्योंकि आवश्यकता होने पर भी लोग क्रय क्षमता के अभाव में बाज़ार में पटे पड़े माल को ख़रीद नहीं सकते। यही पूँजीवाद का अति-उत्पादन है। यही स्थिति आज सामने है। पिछले वित्तीय संकट को टालने के लिए सरकार और रिज़र्व बैंक के प्रोत्साहन पर सार्वजनिक क्षेत्र के भारतीय बैंकों ने पूँजीपतियों को उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर क़र्ज़ दिये। पर इस बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता के उत्पाद बाज़ार में बिक न सके - कई साल से उद्योग लगभग 70% क्षमता पर ही काम कर पा रहे हैं, अतः उनकी मुनाफ़ा दर घटने लगी और वे क़र्ज़ की किश्त/ब्याज चुकाने में असमर्थ हो गये। यही ऋण व नक़दी संकट का मूल कारण है, जिसे सिर्फ़ रिज़र्व बैंक द्वारा मुद्रा प्रसार बढ़ाने से हल नहीं किया जा सकता। जब संकट उत्पादन व्यवस्था में हो तो ऋण व मुद्रा प्रसार से उसको कुछ वक़्त के लिए टाला तो जा सकता है, हल नहीं किया जा सकता। पर वो टालने का काम भी यूपीए के वक़्त में हो चुका, अब वह भी नहीं हो पा रहा है। अब पूँजीवादी व्यवस्था में इसका एक ही समाधान है - कुछ उद्योगों का दिवालिया होकर बन्द हो जाना, बेरोज़गारी का बेतहाशा बढ़ना।

फिर इसमें रिज़र्व बैंक के पूँजी कोष की मात्रा व सार्वजनिक बैंकों पर नियन्त्रण के मुद्दे भी जुड़ गये। यह ख़बर आने लगी कि वित्त मन्त्रालय के मतानुसार यह पूँजी कोष ज़रूरत के मुक़ाबले बहुत अधिक है और इसमें अधिक पैसा डालकर रिज़र्व बैंक सरकार को दिये जाने वाले लाभांश की तादाद कम कर रहा है, अतः ज़रूरत से अधिक पूँजी कोष सरकार के खाते में हस्तान्तरित किया जाना चाहिए। हालाँकि मुद्दे के चर्चा में आ जाने और फलस्वरूप काफ़ी विश्लेषकों द्वारा सरकार की वित्तीय स्थिति के संकट पर सवाल उठाने के बाद सरकार ने ऐसे किसी इरादे से इन्कार करना शुरू कर दिया। वस्तुस्थिति यही है कि वृद्धि के बड़े-बड़े दावों के बावजूद सरकार की टैक्स वसूली बढ़ नहीं रही है, जबकि चुनावी साल में भारी ख़र्च सामने है। अतः भारी वित्तीय घाटे का सामना कर रही सरकार रिज़र्व बैंक की तीन लाख करोड़ रुपये से अधिक की रिज़र्व पूँजी के एक हिस्से को लाभांश के रूप में दिये जाने का दबाव डाल रही है, जिससे रिज़र्व बैंक सहमत नहीं है क्योंकि उसकी राय में तब आगामी संकटों से निपटने के लिए उसके पास रिज़र्व कोष समाप्त हो जायेगा।

19 नवम्बर को बोर्ड की 9 घण्टे की लम्बी बैठक में ही मोदी-जेटली ने रिज़र्व बैंक से कई रियायतें हासिल कर लीं। रिज़र्व बैंक की रिज़र्व पूँजी के मसले पर एक संयुक्त कमिटी बना दी गयी और घाटे वाले बैंकों पर सख़्त नियन्त्रण हटाने व लघु-मध्यम उद्योगों को क़र्ज़ की शर्तों में ढील पर रिज़र्व बैंक ने विचार का भरोसा दिया। पर नक़दी की कमी से जूझ रही सरकार के लिए सबसे बड़ी राहत थी - बैंकों की 9% पूँजी आवश्यकता का 0.625% हिस्से की वृद्धि को 2020 तक के लिए टलवा देना। अब बिना नयी पूँजी डाले, जो सरकार डालने की स्थिति में नहीं है, बैंक 3.7 लाख करोड़ के नये क़र्ज़ दे पायेंगे। रिज़र्व बैंक ने ये भी मान लिया कि लघु-मध्यम उद्योगों को क़र्ज़ देने की शर्तों में ढील दी जायेगी और वसूली न होने पर भी 25 करोड़ रुपये तक के क़र्ज़ को तुरन्त एनपीए घोषित करने से बचाव के उपाय किए जायेंगे।

इसका प्रभाव क्या होगा? बैंक नये क़र्ज़ देंगे, उन्हें जल्दी एनपीए घोषित नहीं करेंगे तो कुल क़र्ज़ की तादाद बढ़ जायेगी, एनपीए की नहीं बढ़ेगी, तो एनपीए का % घट जायेगा, बैंक ऊपरी तौर पर स्वस्थ नज़र आने लगेंगे। सरकार दावा कर सकेगी कि उसने वित्तीय व्यवस्था को संकट से निकाल लिया।

उद्योग भी नयी नक़दी मिलने से कुछ वक़्त तक सेहतमन्द नज़र आने लगेंगे, क़र्ज़ की वसूली का दबाव घटने से अतिरिक्त फ़ायदा होगा। नोटबन्दी/जीएसटी के बाद से बेचैन संघ समर्थक टटपुँजिया सरमायेदार तबक़ा चुनाव के वक़्त ख़ुश और अहसान से दबा होगा।

लेकिन क्या नये क़र्ज़ देने से उद्योगों की समस्या दूर हो जायेगी?

कुछ दिन पहले ही विभिन्न बाज़ार विश्लेषकों के विश्लेषण से यह सामने आया था कि असली समस्या औद्योगिक मुनाफ़े की दर का कम होना है क्योंकि पूँजी का निवेश जिस बड़े पैमाने पर किया गया है उत्पादन का स्तर उसके मुक़ाबले नहीं बढ़ पा रहा और औसत प्रति इकाई पूँजी पर मुनाफ़ा लगातार नीचे जा रहा है। मॉर्गन स्टेनली व सीएलएसए के अनुसार निफ्टी/सेंसेक्स की कम्पनियों की कुल पूँजी पर आय अर्थात प्रति इकाई मुनाफ़ा दर गिर रही है। इस वर्ष यह पिछले साल के मुक़ाबले 5.5% और कम होगी जो 11 तिमाहियों में सबसे बड़ी गिरावट है। एक और विश्लेषक संस्था एमके ग्लोबल के अनुसार मुनाफ़ा दर पिछले दस साल से कम हो रहा है - सबसे बड़ी कम्पनियों के लिए यह दर 25% से आधी होकर 12.5% रह गयी है, लेकिन अन्य कम्पनियों के लिए तो यह जोखिम रहित निवेश जैसे बैंक में जमा पर होने वाली आय से भी कम हो चुकी है जैसे लघु-मध्यम उद्योगों के लिए तो यह मात्र 5-6% पर जा पहुँचा है। इसलिए इनका निष्कर्ष है कि यह चक्रीय नहीं बल्कि ढाँचागत समस्या है।

पर बैंक क़र्ज़ पर ब्याज तो पूँजीपति उत्पादन से प्राप्त मुनाफ़े में से ही चुकाता है। यह ब्याज दर अब लगभग 9-10% है। उद्योग में लगी पूँजी का लगभग 80% बैंक, आदि वित्तीय पूँजीपतियों से ही आता है। मगर कुल पूँजी पर उत्पादन से लाभ दर 5-6% हो तो 80% वित्तीय पूँजी पर 9-10% की दर से ब्याज कैसे चुकाया जाये? यही औद्योगिक-वित्तीय दोनों संकट के मूल में है जिसका शिकार कुछ इजारेदार पूँजीपतियों को छोड़कर सब हो रहे हैं। 2-3 साल पहले तक अमेरिकी-यूरोपीय-जापानी केन्द्रीय बैंकों द्वारा अथाह नक़दी प्रवाह से विश्व थोक पूँजी बाज़ार में ब्याज दरें लगभग शून्य तक पहुँच गयीं थीं तब बड़े पैमाने पर भारतीय पूँजीपतियों (बैंक-उद्योग दोनों)

(पेज 10 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006